सत्यमेव जयते

(सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र)

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

पुस्तक
सत्यमेव जयते

रचनाकार
उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रथमावृत्ति
वि. सं. २०४७ माघ
ईस्वी सन् १९९१, जनवरी

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर-३१३००१

मुद्रक
कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
आगरा-२८२००३

मूल्य
लागत मात्र ९०.०० रुपया

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय उदयपुर

* प्रकाशकीय प्रकाश *

अपने साहित्य रसिक पाठकों के कर-कमलों में 'सत्यमेव जयते' उपन्यास समर्पित करते हुए मन आनन्द विभोर है। राजा हरिश्चन्द्र भारतीय साहित्य के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र रहे हैं। उनका पावन जीवन सत्य का एक बोलता हुआ भाष्य है। सत्य केवल वाणी का विलास नहीं, और न बौद्धिक व्यायाम ही है। अपितु उन्होंने जीवन में जो सत्य का रूप उजागर किया, उसे पढ़कर किस पाठक का हृदय श्रद्धा से नत नहीं होता।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र के जीवन को परीक्षण प्रस्तर पर इस प्रकार कसा जाता है कि यदि अन्य व्यक्ति उस स्थान पर होता तो कभी कुन्दन बनकर नहीं निखर सकता था। परन्तु हरिश्चन्द्र उस परीक्षा में पूर्ण खरे उतरे।

उपाचार्य देवेन्द्र मुनिजी ने उसी जीवन गाथा को आधार बनाकर उपन्यास शैली में प्रस्तुत कथा अङ्कित की है। आज चारों ओर असत्य का बोलबाला है। राष्ट्रीय राजमुद्रा पर सत्यमेव जयते अंकित होने पर भी जीवन में से सत्य नदारत है जिसके कारण भ्रष्टाचार दिन दूना रात चौगुना पनप रहा है। रामराज्य के सपने सपने ही रह गये हैं। काश! प्रस्तुत उपन्यास को पढ़कर मानव यदि कुछ प्रेरणा प्राप्त कर सका तो उपाचार्य श्रीजी का श्रम सार्थक होगा।

आज उपन्यासों के नाम पर जिस प्रकार हल्के अमानवीय कृत्यों को उभारने वाले उपन्यास आ रहे हैं उससे यह विधा भी बदनाम हो रही हैं। ऐसी स्थिति में जीवनोत्थान की प्रबल प्रेरणा देने वाला प्रस्तुत उपन्यास भूले भटके जीवन राहियों के लिए प्रकाश स्तम्भ की तरह उपयोगी होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

तारक गुरु जैन ग्र थालय, उदयपुर

उदार अर्थ सहयोगी

श्रीमान धर्मप्रेमी गुरुभक्त श्री दलीचन्दजी अचलदासजी, मदनलालजी, प्रकाश जी, नरेन्द्रकुमार सोलंकी मूल निवासी सादड़ी, हाल बम्बई फोर्ट

प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशन में आपने गुरुभक्ति से प्रेरित होकर सत् साहित्य के प्रसार हेतु उदार सहयोग प्रदान किया है। आपके सहयोग के प्रति संस्था हृदय से आभारी है।

—चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

००

लेखक की कलम से

सत्य जीवन का सौन्दर्य है, माधुर्य है और साथ ही सच्चा सम्बल है। जैसे सुदृढ़ नींव पर भव्य भवन आधृत होता है वैसे ही सत्य के सुदृढ़ नींव पर ही जीवन का महल खड़ा हो सकता है। असत्य की कच्ची बुनियाद पर जो जीवन महल खड़ा होता है वह चिरकाल तक अक्षुण्ण नहीं रह सकता। आँधी, तूफान और वर्षा में वह धराशायी हो जाता है। एक पाश्चात्य चिन्तक ने प्रस्तुत तथ्य को अपनी भाषा में इस प्रकार उजागर किया है—"मानव जीवन की नींव सत्य पर टिकी हुई होनी चाहिए। सत्य ही सम्पूर्ण विश्व का आधार है।" महान चिन्तक इमर्सन ने सत्य का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—"जिस सुन्दरतम और श्रेष्ठतम आधार पर मानव को अपना जीवन अवस्थित रखना चाहिए वह आधार सत्य है।" वैदिक परम्परा के एक महामनीषी ने लिखा है कि—"सत्य ने ही पृथ्वी को धारण कर रखा है और सूर्य का दिव्य आलोक सत्य से ही जुड़ा हुआ है। सत्य से ही ठुमक-ठुमक कर पवन चलता है। इस सृष्टि में जो कुछ है वह सभी सत्य से ही प्रतिष्ठित है।"

श्रमण भगवान महावीर से एक जिज्ञासु ने पूछा—भगवान कहाँ है? उन्होंने कहा—सच्चं खु भगवं—सत्य ही भगवान है। जो साधक सत्य कि साधना में उपस्थित है, वह मेधावी संसार को पार कर जाता है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। सत्य ही जीवन का सच्चा सार है।" महाभारत में व्यास ऋषि ने सत्य की महिमा का उत्कीर्तन करते हुए कहा है कि—जैसे एक नौका के सहारे को पाकर मानव विराटकाय समुद्र को पार कर जाता है। समुद्र के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है वैसे ही सत्य की नौका पर आरूढ़ होकर व्यक्ति नरक और तिर्यञ्च के दारुण दुःखमय संसार सागर को पार कर स्वर्ग के कमनीय सुखमय संसार में पहुँच जाता है।

विश्व के सभी चिन्तकों ने सत्य के महत्व को स्वीकार किया है। सत्य केवल बौद्धिक विलास नहीं है। सत्य की त्रिवेणी मनोलोक, वचनलोक और कर्मलोक में प्रवाहित होती है तो स्नेह, सौहार्द और सद्भावना की हरियाली लहलहाने लगती है।

राजा हरिश्चन्द्र के जीवन में सत्य पूर्ण रूप से प्रकट हुआ था। उनके मन के कण-कण में, जीवन के अणु-अणु में सत्य मुखरित था। परीक्षण प्रस्तर पर उनके जीवन को कसा गया और वे उस परीक्षण में पूर्ण खरे उतरे।

वैदिक और जैन दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में राजा हरिश्चन्द्र की जीवन गाथा आई है। परम्परा भेद होने से कुछ कथा में भी भेद है। किन्तु मूल कथा का सार एक ही है। जैन परम्परा में इस कथा के आदि लेखक कौन रहे हैं ? यह शोध का विषय है। संस्कृत और प्राकृत भाषा में कितने ग्रन्थ इस कथा को लेकर निर्मित हुए हैं यह भी अन्वेषणीय है।

पौर्णिमागच्छीय गुणधीरसूरि के पट्टधर शिष्य सौभाग्य सूरि के शिष्य धर्मदेव ने विक्रम संवत १५५४ में हरिश्चन्द्र रास की रचना की थी। यह रास मेहसाना (गुजरात) में लिखा गया था। दूसरा हरिश्चन्द्र प्रबन्ध ग्रन्थ भी मिलता है। इस ग्रन्थ के रचयिता ब्राह्मण गच्छीय बुद्धि-सागर सूरि की परम्परा के गुण माणिक के शिष्य उपाध्याय भाव ने लिखा है। श्री अगरचन्दजी नाहटा के अभिमतानुसार उपाध्याय भाव का समय वि० सं० १५८८ है।

इसके पश्चात भी अनेक जैन मुनियों ने हरिश्चन्द्र पर अपनी कलम चलाई। पर इस समय साहित्य के अभाव में उन पर लिखना सम्भव नहीं है। उपाध्याय अमर मुनिजी ने सत्य हरिश्चन्द्र पर एक काव्य का निर्माण किया था, जिसका प्रकाशन सन्मति ज्ञानपीठ आगरा से हुआ था। श्रद्धेय उपाध्याय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज ने जैन कथाएँ सीरीज माला के अन्तर्गत ४५वें भाग में हरिश्चन्द्र की कथा दी है।

इस प्रकार हरिश्चन्द्र पर गद्य एवं पद्य में काफी लिखा गया है। मैंने राजा हरिश्चन्द्र के कथानक को ही उपन्यास शैली में लिखने का प्रयास किया है। मैं इसमें कहाँ तक सफल हो सका हूँ यह निर्णय तो प्रबुद्ध पाठक ही कर सकते हैं।

मेरे हाथ में दर्द होने से पाण्डुलिपि तैयार करने में डा० भटनागर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। उनके कलम के स्पर्श ने मेरे मन को मोहा है। ज्ञात और अज्ञात रूप में जिनका सहयोग प्राप्त हुआ है उन सबको हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय पूज्य गुरु देवश्री का मंगलमय आशीर्वाद मेरे साहित्य कार्य के लिए सम्बल रूप रहा है। उनके आशीर्वाद से मैं सदा आगे बढ़ता रहूँ। यही मंगल मनीषा।

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

卐

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

सत्यमेव जयते

सत्यव्रती महाराजा हरिश्चन्द्र

एक कथाकृति

।। हरिश्चन्द्र समो राजा न भूतो न भविष्यति ।।

पूर्व कथ्य

अमरावती का अद्‌भुत वातावरण। रंग-बिरंगी घटाओं की उमड़-घुमड़—आकाश के मेघहीन कौनों में इन्द्रधनुषों की सतरंगी छटा। हरी-भरी, सुरभित, पुष्पाच्छादित नन्दन वाटिका। शीतल, मन्द-सुगन्धित पवन का अविराम प्रवाह और देवलोक का चित्र-विचित्र वायवी अस्तित्व····सब कुछ कोमल, मनोहर, सुन्दर, शोभा युक्त। देव सभा में रत्नजटित स्वर्णासनों की देव-विभूषित पंक्तियाँ। देवराज इन्द्र उच्चासन पर मुस्कुराते हुए आसीन। अप्सराएँ चामर व्यजन डुलातीं। अर्द्ध निमीलित नयनों से नृत्यावलोकन करने में व्यस्त इन्द्रदेव भावविभोर से। सर्वत्र एक प्रमत्त वातावरण छाया हुआ। गंधर्वों किन्नरियों के सरस नृत्यगान से देवताओं के चित्त रस-विभोर हो उठे।

गीत का मुखड़ा—"धरती का हरिचन्द महान"—अपनी पुनरावृत्ति के कारण देवताओं के मन में बड़ी देर तक गूंजता रहा। संगीत समापन पर वे बड़ी देर तक इस मादक धुन पर झूमते और गीत के बोल गुनगुनाते रहे। चैतन्य प्राप्त एक देवता ने सहसा आपत्ति की। बोले—गंधर्वराज! यह मर्यादाहीनता आपने कैसे की? देवसभा में एक तुच्छ मानव का गुणगान! कहाँ से यह साहस आ गया आप में, देवलोक में तुच्छ धरती के एक तुच्छ प्राणी को आप महान कहते चले जा रहे हैं। आपको कुछ····"

"मुझे ज्ञात है देव! सब कुछ ज्ञात है। महाराज हरिश्चन्द्र अटल सत्यव्रती हैं। उनकी महिमा का पूर्ण गान तो शेष शारदा से भी सम्भव नहीं है। नरेश हरिश्चन्द्र तो सदेह स्वर्ग प्राप्ति के अधिकारी होते जा रहे हैं।"

"बन्द करो यह चारण-प्रवृत्ति"—गंधर्व को टोकते हुए देवता ने सरोष कहा—"स्वर्ग के कलाकार हो और मर्त्यलोक के एक मरणधर्मा की बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा करते तुम्हें लज्जा नहीं आती? कैसे देव-सेवक हो!····"

"गन्धर्वराज के कथन में यथार्थ है, देवता! उसमें तनिक भी अतिश-

योक्ति नहीं है" देवराज इन्द्र ने बीच में ही बोलते हुए कहा –"मर्त्यलोक में अयोध्यापति महाराज हरिश्चन्द्र वास्तव में दृढ़ सत्यव्रती हैं। वचन-पालन में वे सर्वथा अडिग हैं। तन-मन-धन से वे इसमें लगे रहते हैं। कुछ अर्थों में तो वे देवत्व से भी उच्च होते जा रहे हैं।"

"देवराज! आप भी गन्धर्वराज का समर्थन करने लगे। भला कोई साधारण मानव भी देवतुल्य कैसे हो सकता है। कहाँ हम····दिव्य····भव्य···· और कहाँ····"

"देवगण! मनुष्य भी अपने सत्कर्मों से—अपने आदर्शों से देवत्व प्राप्त कर लेता है। इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये किसी को।" इन्द्र देव ने प्रबोधन के स्वर में कहा।

"हो नहीं सकता, देवेन्द्र! ऐसा कभी नहीं हो सकता।"

"कोई मनुष्य देवताओं के समान कैसे हो सकता है?"

"यह तो गन्धर्वराज की अल्पज्ञता है, देवेन्द्र! कि वे किसी हरिश्चन्द्र को इतना ऊँचा मान बैठे हैं। उनका भ्रम है यह।" देवराज ने विरोध करने वाले इन अनेक देवताओं को शान्त करते हुए कहा—"देवगण! ईर्ष्या और रोष हमें शोभा नहीं देता। तनिक शान्ति से विचार कीजिये। नरेश हरिश्चन्द्र हैं ही इस स्तुति के योग्य। उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह कम होगी। सत्यपालन की सभी सीमाएँ पार कर वे आगे···· बहुत आगे बढ़ गये हैं। सत्याचरण उन्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं।"—कहते-कहते देवराज के मुख पर एक सहज मुस्कान छा गयी।

देवेन्द्र की इस स्पष्टोक्ति पर भी कतिपय देवता महाराज हरिश्चन्द्र की प्रशस्ति में सत्य का अनुभव नहीं कर पाये। एक देवता बोला—जाँचा-परखा सत्य ही सत्य हो सकता है देवराज इन्द्र! परखा तो आपने भी नहीं है।" एक अन्य देवता ने कहा—"हमें क्या अन्तर आता है। वह हरिश्चन्द्र यदि ऐसा है भी तो हुआ करे।" कुछ देवताओं ने इस कथन का समर्थन किया—एक हास्य गूँज उठा। देवसभा विसर्जित हो गयी। इन्द्र के कथन के प्रति अविश्वासी तीन-चार देवगण गम्भीर, चिन्तन की मुद्रा में एक ओर निकल गये। उनके पारस्परिक वार्तालाप के ढंग से असंतोष की झलक मिल रही थी और किसी संकल्प की भी। देवराज इन्द्र के लिए तो बात आयी-गयी हो गयी।

१

आदि जिनेश्वर भगवान ऋषभनाथ की वंश-परम्परा में अनेक यशस्वी एवं लोकप्रिय नरेश अयोध्या के राजसिंहासन को विभूषित करते रहे हैं। महाराजा हरिश्चन्द्र इसी मणिमाला के एक दीप्तिमान, अनमोल रत्न थे। अयोध्या की राज-सभा सजी हुई थी। सभासद, मन्त्रीगण, राज्याधिकारी, सामन्तगण सभी अपने-अपने स्थानों पर विराजित महाराज के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। रत्नजटित स्वर्ण सिंहासन के दोनों ओर दो परिचारिकाएँ चंवर लिए खड़ी थीं। उनके पास ही दोनों तरफ़ स्वर्ण स्तम्भों को लिए खड़े थे—दो सेवक, जिन पर सूर्यदेव की स्वर्णाकृतियाँ अंकित फलक जुड़े हुए थे। सभासदों में धीमे स्वर में पारस्परिक वार्तालाप चल रहा था। भवन में यही मर्मर स्वर गूँज रहा था। सहसा घंटा-ध्वनि हुई और सभा भवन में निस्तब्धता छा गयी। प्रतिहारी का उच्च स्वर गूँज उठा—

सावधान ! सावधान !! धर्मावतार, प्रजापालक····न्यायशील, पराक्रमी····महान सत्यव्रती, दानवीर····करुणासिन्धु, दीनबंधु····महाराजाधिराज अयोध्यानरेश पधार रहे हैं····। सावधान !····सावधान !! धर्मावतार, प्रजापालक····न्यायशील····।" तुरही के तीक्ष्ण स्वर में शेष शब्द लुप्त हो गये। शान्त, गम्भीर मुद्रा में महाराज हरिश्चन्द्र का आगमन हुआ। अरुण पाँवड़ा बिछा हुआ था। सिंहवत् पराक्रमी दिखायी देने वाले महाराज राजसभा पर विहंगम दृष्टि डालते हुए धीर-मन्थर गति से पाँवड़े पर आगे बढ़ते रहे। सभाभवन खचाखच भरा हुआ था। समस्त सभ्य जन अपने-अपने स्थानों पर नतमस्तक, हाथ आगे बाँधे, मौन, अचल खड़े थे। महाराज ने राज्यासन ग्रहण किया और समस्त सभासदों ने तीन बार प्रणाम किया और शिष्टता के साथ अपने आसन ग्रहण किये। सौम्य मुख मण्डल पर मन्द मुस्कान महाराज के निश्चिन्त मन की प्रतीक बनी हुई थी। राजकाज का गुरु-गम्भीर क्रम आरम्भ होने को ही था कि राजसभा की गंभीर

शान्ति को भंग करते हुए एक तपस्वी ने प्रवेश किया जो हड़बड़ाया हुआ, अत्यन्त आकुल-व्याकुल था। तपस्वी आन्तरिक चचलता के कारण अस्थिर और उद्विग्न दिखायी देता था। उसकी श्वासगति अत्यन्त तीव्र थी।

प्रतिहारी ने तपस्वी को थाम कर आश्वस्त किया और उसे यथा-स्थान खड़ा कर दिया। अब भी उसके वक्ष की गति उसके श्वास-प्रश्वास की असामान्यता घोषित करती थी। महामात्य वसुभूति ने इसी समय तपस्वी के समीप पहुंचकर अपनी कोमल वाणी से उसे और स्वस्थ किया और तब कहा—"तपस्वी जी! आप अपना परिचय दीजिये, अपनी समस्या से महाराज को अवगत कराइये और अपनी मनोकामना प्रकट कीजिये।"

महामात्य के कथन से तपस्वी किंचित् और भी आश्वस्त हुआ। बोला—"महाराज की जय हो"""""सदा विजय हो। हम अत्यन्त त्रस्त और संकटग्रस्त हैं महाराज! हमारे प्राणों पर आ पड़ी है। आप तो सन्तों-सज्जनों के प्रबल रक्षक हैं। हमारा भय-मोचन कीजिये प्रभो!"

महाराज ने हाथ उठाकर अभयदान देते हुए तपस्वी से कहा—"अब निर्भीक और निश्चिन्त हो जाइये। आपके शत्रु अब हमारे, हमारे राज्य के शत्रु हैं। आपका कोई भी अहित, उनके किये, अब नहीं होगा। हमारी शक्ति सदा गौ-ब्राह्मण और सन्त-सज्जनों की रक्षिका रही है। आप कृपापूर्वक हमें अपना संकट बताइये।" महाराज के दोनों हाथ जुड़ गये और उनके स्वर में अनुनय आ गया। सच्चा सहायक दीनों की सहायता विनय-पूर्वक ही करता है और फिर भूल जाता है। अहं का अथवा उपकार का प्रदर्शन तो सारे सुकृत्य को ही नष्ट कर देता है।

संकट-मोचन दायित्व की इस भावना से तपस्वी आस्वस्त हुआ और उसने निवेदन किया—"महाराज! आपके कथन से धीरज बँधा है। आपका प्रतिहारी उचित ही बखान कर रहा था—आप धर्मावतार हैं, दीनबंधु हैं। आप हमारा कष्ट अवश्य दूर कर देंगे—इसमें कोई शंका नहीं रह गई है।" कुछ क्षण विश्राम कर तपस्वी ने अपना परिचय दिया—"महाराज! मैं सरयू तट स्थित तपोवन का एक तपस्वी हूं। कुलपति आचार्य के सान्निध्य में मैं तपःमार्ग पर अग्रसर हो रहा हूँ। ऐसे अनेक तपस्वी आश्रमवासी हैं और कुलपति महोदय की कृपा प्राप्त कर रहे हैं।" महाराज इस परिचय से कोई सूत्र पकड़ नहीं पा रहे थे। कौन कुलपति आचार्य और कैसा आश्रम! उन्होंने एक उड़ती दृष्टि से वसुभूति एवं अन्य मन्त्रियों को निहारा - उनकी

आँखों में भी शून्य तैरता पाकर महाराज ने तपस्वी की ओर ताक कर कहा —"आगे वर्णन कीजिये।"

"महाराजाधिराज, यह सत्य ही है कि आपके न्यायशील शासन में कोई प्राणी किसी का शत्रु नहीं। वैमनस्य किसी को भी पीड़ित नहीं कर पाता। सरयू तट पर सिंह और अजाशावक संग-संग पानी पीते रहे हैं, मयूर और नाग वन में संग-संग विचरण करते रहते हैं। जन-जन की निर्भीकता शासक के सामर्थ्य की सूचक होती है और आतंक चाहे किसी का भी हो—उससे अपयश शासक का ही होता है।" कहते हुए सहसा तपस्वी मौन हो गया·····कुछ क्षणों का यह सन्नाटा सारी राजसभा में अपना आभास कराने लगा। इस मौन को भंग करते हुए महाराजा ने गम्भीर वाणी में कहा—"आप चुप क्यों हो गये····कहिये; निर्भीकता के साथ अपनी बात कहिये। किसी राज्याधिकारी की ओर से कोई समस्या है? आतंक किस का है?"

"नरनाथ! उसी सरयू तट पर हमारा आश्रम आज आतंकित है—एक शूकर से। उस वराह का उत्पात इतना अधिक हो गया है कि शान्ति के पलों का सुख भी हम नहीं उठा पाते हैं महाराज! आगामी ही क्षण हमारे लिए कहीं महाविनाश का तांडव लेकर उपस्थित न हो जाय, भीतर-भीतर यह आतंक बना रहता है।"

"कब से यह उत्पात है ऋषि? हमें जानकर बड़ा दुःख हुआ कि हमारे राज्य में सन्तों को इतनी पीड़ा रही और हमारे शासन को इसकी भनक भी नहीं पड़ी।" महाराजा ने कहा—"ऋषिवर! तनिक स्पष्ट करके अपनी बात कहिये और हमें सेवा का क्षेत्र बताइये।"

"महाराज! बात तो बड़ी स्पष्ट है। एक लम्बे समय से यह एक ही शूकर कष्ट देता आ रहा है। हम अहिंसक जन भला कैसे·····? किन्तु शूकर की विनाश की प्रवृत्ति बढ़ती ही गयी। अब हम इस आतंक में आकंठ निमग्न हो गये हैं। कृपया हमारा त्राण कीजिये प्रभो, हमें इस संकट से मुक्त कीजिये। आप तो विप्ररक्षक हैं, महाराज।"

इसी समय महामात्य वसुभूति ने प्रेरित करते हुए तपस्वी से कहा—"ऋषिवर! निस्संकोच बताइये महाराज और महाराज के शासन से आप क्या सहायता चाहते हैं? आपका संकट कैसे दूर किया जा सकता है?" महाराज ने स्वयं भी महामात्य के कथन का अनुमोदन सा करते हुए कहा—

"सुनो, ऋषिवर ! क्या किया जाय कि आपका ऋषि-कुल आश्रम आश्वस्त हो सके। क्या आप उस अधम शूकर का अन्त ही चाहते हैं ?"

"हाँ"""""महाराज हाँ, बस यही मनोकामना है ? आप उस निकृष्ट दुष्ट वराह का विनाश कर हमें उपकृत कीजिये। ऋष्याश्रम आपका आभारी रहेगा। कृपा कीजिये प्रभो, अपने कुछ सैनिक इस प्रयोजन से भिजवाइये और हमारा इस त्रास से उद्धार कीजिए।" इतना कह, तपस्वी याचना-मुद्रा में करबद्ध खड़ा रह गया। महाराज के मुख की ओर उसकी टकटकी लगी थी।

महाराज ने कहा—"आप आश्वस्त होकर जाइये ऋषिवर ! और श्रद्धेय कुलपति आचार्य से हमारा प्रणाम निवेदन कर यह सन्देश दीजिये कि हम स्वयं कल तपोवन में आयेंगे और उस शूकर की समस्या को सदा-सदा के लिए समाप्त कर देंगे।" कृतकृत्य भाव के साथ तपस्वी ने शीष झुकाते हुए पुनः प्रणाम किया—"महाराज ! हमें आपसे आपके औदार्य से यही आशा थी। आपके इस आश्वासन से ही हमारी आधी चिन्ता दूर हो गयी है। शेष भी कल के सूरज में समाप्त हो जायगी। आप धन्य हैं महाराज ! आप धन्य हैं।"—कहकर विनीत भाव से तापस ने एक बार महाराज की ओर निहारा, आशीष दी—सदा प्रजा हितैषी बने रहो, दीनबंधु का गौरव प्राप्त करते रहो। इन्द्रलोक तक आपका यशालोक पहुँचे"—और मस्तक के ऊपर ले जाकर हाथों को जोड़ते हुए प्रस्थान किया।

महाराज ने महामात्य को निर्देश दिया कि तपस्वी को राजकीय रथ द्वारा उनके गन्तव्य स्थल पर पहुँचा दिया जाय। गम्भीर होता-होता वातावरण फिर से हल्का-फुल्का हो उठा। सभा विसर्जित हुई। सभासद महाराज के शील और औदार्य की प्रशंसा करते हुए सभा-द्वार की ओर बढ़ने लगे।

२

अश्वारोही महाराज हरिश्चन्द्र ने राजभवन से प्रस्थान किया। सशस्त्र सेना का एक दल अनुगामी था। प्रातःकाल का अत्यन्त सुहाना समय। सूर्यदेव अपनी अरुणिमा त्याग कर पीताभ हो गये थे और आकाश मार्ग में कुछ आगे बढ़ आये थे। रवि-रश्मियों में महाराज का स्वर्ण मुकुट दमक उठा था। अश्व प्रातःकालीन शीतल हवा से उत्साहित हो तीव्र वेग से बढ़ा जा रहा था। अश्वारोही सैनिक त्वरा के साथ महाराज के आदेश की प्रतीक्षा करते बढ़े चले जा रहे थे।

महाराज सहसा अश्व से उतर गये और एक छोटी सी टेकरी पर चढ़ गये। भगवान भास्कर के समक्ष हाथ जोड़कर, नेत्र मूँद कर कुछ क्षणों के लिए अचल खड़े, वन्दना करने लगे। उनके मानस में नित्य की भाँति ही स्वर गूंजने लगे—चन्द्र-सूर्य चाहे अपनी दिशा त्याग दें, किन्तु सत्यव्रती अपना वचन नहीं त्यागता। सत्य-रक्षा उसका परम धर्म होता है। जिसके वचन निरर्थक हो जाते हैं—उसका जीवन अकारथ रह जाता है। उसके समस्त पुण्य-तरु सूखकर निष्फल हो जाते हैं। सूर्यदेव का यह सन्देश उनके मन में सत्यशीलता को प्रतिदिन और भी अडिग बना देता था। सत्यपालन के संकल्प की पुनरावृत्ति करते हुए उन्होंने वन्दना समाप्त की। वे धीमे-धीमे टीले से नीचे उतर आये और अश्व को थपथपाया, वल्गा थामी और आरूढ़ हो गये। दल पुनः आगे बढ़ने लगा।

शीघ्र ही वह स्थल आ गया जहाँ से सरयू को पार कर उस तट पर पहुँचना था। सरयू-तट को पीछे छोड़ते हुए अश्व अपनी तीव्र गति से ही बढ़ते हुए पानी में उतरते गये। अपने दृढ़ पैरों से पानी उछालते हुए अश्व उस तट पर पहुँच गये। अपनी गति को बनाये रखते हुए अश्व बढ़ते रहे। सैनिकों ने झुक कर अश्वों की गर्दन सहला कर थपथपी दी। अश्व निहाल हो गये। कृतज्ञता-सूचक रूप में उनकी गति कुछ और भी बढ़ गयी। सरयू

तट का यह पार महाराज के लिए अनदेखा न था—हो भी नहीं सकता था। यहाँ किसी आश्रम का होना अवश्य ही उन्हें पूर्व में ज्ञात न था। आश्चर्य है कि उनका समस्त प्रशासन ही ऐसे तथ्य से अनभिज्ञ रह गया था। सैन्य दल सघन वनस्पतियों, झाड़ियों को पार करता हुआ गन्तव्य की ओर बढ़ा चला जा रहा था कि दूर किसी ऊँचे तोरण द्वार की झलक दिखायी दी। प्रतीत हुआ कि आश्रम अब समीप ही है। तनिक और बढ़ने पर तो आश्रम स्पष्ट ही दिखायी देने लगा।

आश्रम से काफी दूर ही महाराज ने अश्व रोक लिया और अश्व से उतर पड़े। सारा सैन्य दल यहीं रुका रहा। महाराज पैदल चल पड़े आश्रम की ओर। सेनानायक अपने दो साथियों के साथ महाराज के साथ हो लिया। तभी मुख्य द्वार पर प्रतीक्षा कर रहा तपस्वी दौड़कर सामने आया। अगवानी के भाव के साथ तपस्वी ने हाथ उठाकर महाराज को आशीष दी और आदर के साथ भीतर ले गया। चारों ओर कुटियाओं की पंक्तियाँ थीं। मध्य में एक बड़ा छप्पर था। महाराज को यहीं ले जाया गया। तपस्वी ने कहा था कि पहले कुलपति आचार्य से भेंट कर लीजिये। महाराज ने देखा—सामने एक पीठिका पर मृगछाला पर एक भव्य ऋषि आसीन हैं। उनके मुख-मण्डल से तेज विकीर्ण हो रहा था। जटा मुकुट और दाढ़ी, ताम्रवर्ण, घुटनों तक भगवा धोती, कंठ में रुद्राक्ष की माला। महाराज इस छवि से अत्यन्त प्रभावित हुए। झुककर महाराज ने प्रणाम किया—"पूज्य ऋषिवर की सेवा में मैं हरिश्चन्द्र प्रणाम निवेदन करता हूँ.....वन्दन करता हूँ।"

कुलपति आचार्य ने आँखें खोलीं। मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए उन्होंने महाराज को हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया—"कल्याण हो राजन्! यशस्वी बनो। यश ही तुम्हारा सुख रहे।" आचार्य ने महाराज को बैठने का संकेत किया। वे आंगन की एक मृगछाला पर हाथ जोड़े बैठ गये, निवेदन के स्वर में बोले—ज्ञात हुआ कि कोई शूकर आश्रम में उत्पात मचाता है— साधना क्रम में व्यवधान पहुँचाता है। इस समस्या के निराकरण हेतु ही मैं इस समय उपस्थित हुआ हूँ।

गुरु गम्भीर वाणी में आचार्य ने कहा—"राजन्! तुम्हारा यश तो सर्वत्र व्याप्त है। तुम गौ और विप्र के रक्षक हो। तुम्हारे राज्य में यह आश्रम है—यह एक सुन्दर सुयोग है। हमने तुमको इसी कारण सन्देश भी

भिजवाया कि तुम हमारी रक्षा के लिए समर्थ तो हो ही, सन्नद्ध भी हो जाओगे।"

"ऋषिवर की आज्ञा शिरोधार्य हैं"—महाराज ने सश्रद्धा निवेदन किया—"सेवा का ऐसा अवसर आपने प्रदान किया—मैं आपका अत्यन्त ऋणी हूँ। शूकर का आतंक समाप्त करना मेरा कर्तव्य है। मैं चाहता हूँ कि सारा क्षेत्र ही इस आतंक से मुक्त हो जाय।"

तपस्वी ने इसी समय निवेदन किया—महाराज स्वयं पधारे हैं—आचार्य श्री! यह तो इनका बड़प्पन है। एक सैन्य दल भी इनके साथ है। शूकर-नियन्त्रण तो वह दल भी....."। "नहीं....नहीं....राजन् स्वयं ही यह पुण्य कार्य सम्पन्न करेंगे।" कुलपति आचार्य ने सहज भाव से कहा—'यह भी एक पुण्य है और नरेश ही इसके भागी हैं।"—उनके मुख पर एक अद्भुत भाव प्रसरित हो गया। महाराज ने इसी समय निवेदन कर दिया—"मैं स्वयं ही इसी प्रयोजन से उपस्थित हुआ हूँ ऋषिराज! मुझे ये सेवाएँ स्वयं करते हुए बहुत आनन्द होता है। मैं तो इस अभियान में सफलता के लिए आपका आशीर्वाद चाहता हूँ"—कहते हुए महाराज ने आसन त्याग दिया और उठ खड़े हुए। आचार्य ने आशीष दी—"सफल-काम हो....यशस्वी हो।"

कृतार्थ भाव से महाराज ने पुनः करबद्ध नमन किया, दो चरण पीछे हटे और मुड़कर विदा हो गये। अपने दल सहित प्रस्थान से पूर्व उन्होंने तपस्वी अंगारमुख से पूछा कि शूकर कहाँ है? उसका अता-पता दीजिये। अंगारमुख तो उत्तर के लिए मानो पहले से तत्पर ही था। बोला—"राजन्! आज सबेरे तक वह यहीं इधर-उधर छिपता रहा। रात्रि भर वह आश्रम में विनाश करता रहा। कोई एक प्रहर पूर्व वह इस दिशा में चला गया।" कहते हुए अंगार-मुख ने एक वन की ओर संकेत किया। वह आगे कहने लगा—"आपका आगमन होने को था, अतः उसका पता रखने को हमारे कुछ तपस्वी उसके पीछे गये थे। हमारी दृष्टि उस पर बराबर बनी हुई है।" अंगारमुख दल को उस दिशा में आगे ले गया। कुछ ही दूर चलने पर प्रहरी की भाँति सतर्क कुछ तपस्वी दिखायी दिये। महाराज को लगा कि शूकर यहीं कहीं है। एक तपस्वी ने झाड़ियों के एक सघन समूह की ओर संकेत करते हुए कहा कि शूकर यहाँ छिपा बैठा है।

नायक का संकेत पाकर सैनिकों ने झाड़ियों को एक बड़ा घेरा बना कर घेर लिया। सभी सतर्क-चौकन्ने थे, ऐसे कि पत्ता खड़कने की ध्वनि

भी उनसे छिपी नहीं रह सके। ऐसे शान्त वातावरण में दूर किसी मयूर की ध्वनि भी पवन की लहरियों के साथ आकर साफ सुनायी दे जाती थीं। महाराज स्वयं धनुष धारण किये सतर्क मुद्रा में अश्वारूढ़ थे, कि आवश्यकता होने पर वे शूकर का पीछा भी कर सकें। महाराज ने चौकन्ने रहते हुए इस घनी झाड़ी-समूह की एक पूरी परिक्रमा की। पूरी तरह से निरीक्षण परीक्षण के उपरान्त भी उन्हें इन झाड़ियों में किसी शूकर की उपस्थिति का आभास नहीं हुआ। उन्होंने एक युवा तपस्वी के सम्मुख अपनी धारणा व्यक्त करते हुए पूछा—क्या इसी स्थल पर शूकर का होना निश्चित है? हमें ऐसा लगता नहीं है। तपस्वियों ने बताया कि उनके सम्मुख ही शूकर इन झाड़ियों में प्रविष्ट हुआ था। उसके पश्चात वे निरन्तर दृष्टि जमाए हुए हैं, शूकर इससे बाहर नहीं निकला। शूकर अवश्य ही अभी भी यहाँ है। रुक-रुक कर कभी-कभी झाड़ियों से खड़खड़ाहट भी आने लगती थी। वह ध्वनि इस बात की आशंका अवश्य बना देती थी कि संभवतः वह भीतर ही हो।

एक तापस ने इसी समय कहा—"समस्या यह है कि शूकर को इस स्थान पर इतने लोगों के एकत्र हो जाने का आभास हो गया है। अब वह शीघ्र बाहर आने वाला नहीं। जब तक वह दिखायी न दे, राजन्! आप उसका वध कैसे कर पाएँगे?"

महाराज ने मुस्कुराते हुए इस काल्पनिक संकट को हवा में उड़ाते हुए कहा—मुने, यह कोई संकट नहीं है। हमारे लिए लक्ष्य का दिखायी देना अनिवार्य नहीं है। हमारे पास शब्द भेदी शर-संधान की कला भी है। हम बिना देखे केवल स्वर की दिशा से अनुमान कर लक्ष्य साध सकते हैं। कुछ ही क्षणों में पुनः खड़खड़ाहट हुई। संयोग से यह स्वर कुछ क्षणों तक आता ही रहा। महाराज ने तरकस से बाण निकालकर धनुष पर चढ़ाया और स्वर की दिशा में संधान प्रयत्न करने लगे। कुछ इधर-उधर होने के बाद धनुष एक दिशा में स्थिर हो गया—बाण का गंतव्य निश्चित हो गया। समस्त चेतना केन्द्रीभूत हो गयी। महाराज के मानस में वह बिन्दु स्पष्ट होने लगा, जहाँ उनके बाण को लक्ष्य साधना है। तुरन्त उन्होंने प्रत्यंचा खींची और बाण छोड़ दिया। झाड़ियों में हलचल बढ़ी। किसी प्राणी के भाग कर बाहर आने की चेष्टा का आभास होने लगा। सभी एकदम सतर्क हो गये। एक पशु झाड़ियों से बाहर निकला और एक ओर

को लड़खड़ाता भागने लगा—किन्तु यह क्या! यह तो शूकर नहीं एक हरिणी है। महाराज कुछ सोच ही नहीं सके—तभी अंगारमुख ने कर्कश स्वर में कहा—"यह आपने क्या किया राजन्! घोर अनर्थ हो गया। आपने कुलपति आचार्य की पुत्री वंचना की पालित मृगी की हत्या कर दी। यह मृगी गर्भिणी भी है। आपको तो शूकर वध करना था।"

महाराज थर-थर काँपने लगे। धर्मात्मा के लिए पाप की आशंका ही व्याकुल कर देने को पर्याप्त रहती है। महाराजा हरिश्चन्द्र तुरन्त अश्व से भूमि पर उतर आये और लपककर आहत हरिणी की ओर बढ़े। उपस्थित तापस भी उनके पीछे दौड़ पड़े। सैनिकों का वृत्त तो अब इस नये स्थल पर बन गया था। बीच में मृत मृगी भूमि पर पड़ी थी। महाराज ने देखा मृगी अन्तिम साँस ले चुकी थी। बाण अब भी उसके पेट में धँसा हुआ था। एक ओर मृत मृग शावक पड़ा था। इस बीभत्स दृश्य से समस्त उपस्थित जन करुणार्द्र हो उठे थे। महाराज को अतिशय आत्म-ग्लानि हो रही थी। स्वेद-कणों से उनका सारा शरीर भीग उठा था। वे किंकर्तव्य-विमूढ़ से, बड़ी देर तो अचंचल खड़े ही रह गये।

आश्चर्य की बात यह थी कि यह पालित मृगी वन प्रान्तर की इस सघन झाड़ी में कैसे पहुँची और इसके गले में यह लम्बी रस्सी क्यों बँधी थी? इन बातों की ओर सेनानायक का ध्यान गया था, किन्तु किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व वह कुछ कहने की स्थिति में भी नहीं था। महाराजा हरिश्चन्द्र दीन से दीनतर अवस्था को प्राप्त होते जा रहे थे। तपस्वियों ने उनको धिक्कारा, सैनिकों ने सहानुभूति प्रकट की। दोनों ही प्रतिक्रियाएँ उनके मनस्ताप को अभिवर्धित करने लगीं। क्षीण स्वर में उन्होंने कहा—"मैंने महापाप किया है, घोर अनर्थ हुआ है मुझसे····मैं पाप का भागी हूँ। मुझे प्रायश्चित्त करना होगा····प्रायश्चित्त करना होगा मुझे!"

इसी समय अंगारमुख ने कहा—राजन, आपने पाप किया, किन्तु उस कर्म को पाप रूप में स्वीकार भी किया—यह आपके पाप की गंभीरता को कुछ कम तो कर देता है, किन्तु प्रायश्चित्त के बिना दुष्कृत का निर्मूल होना सम्भव नहीं है। क्यों न आप कुलपति आचार्य से ही प्रायश्चित्त का विधान पूछ लें। अपराध भी तो उन्हीं के विरुद्ध हुआ है।"

दोनों हाथों से ढाँपा हुआ मुख महाराज ने सहसा अनावृत किया

और उन्होंने अंगारमुख के प्रति आभार-ज्ञापन के स्वर में कहा—"मुने, आपने उचित ही मार्ग दर्शन दिया है। अब तो कुलपति आचार्य ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं। वे अवश्य ही मुझे इस पाप से मुक्ति का पथ सुझाएँगे। वे दीनबन्धु हैं, करुणा सागर हैं।"—महाराज हरिश्चन्द्र यह कहते हुए आश्रम की ओर चल दिये। उनके आगे-आगे तपस्वीजन थे और पीछे-पीछे सैन्यदल। यह अद्‌भुत यात्री दल था। सब चिन्तामग्न थे—सब पैदल चल रहे थे। अश्व उनके साथ-साथ चल रहे थे। मेघ का एक खण्ड भी छाया करने को नहीं आया। सूर्यदेव ठीक मस्तक पर थे। परछायीं भी धरती पर दीख नहीं पड़ती थी। सच है—संकट में तो परछायीं भी साथ छोड़ देती है।

३

कुलपति आचार्य का आश्रम इस समय सर्वथा शान्त था। यह शांति प्रलय के पूर्व की स्तब्धता जैसी थी। आचार्य अभी भी ध्यानलीन बैठे थे। सहसा दो तपस्वियों ने आश्रम में प्रवेश कर अपनी चीख-पुकार से कोहराम खड़ा कर दिया। ".....अनर्थ हो गया आचार्यश्री, सर्वनाश हो गया..... हमारा सब कुछ छिन गया प्रभो ! हम कहीं के नहीं रहे....."

कुलपति आचार्य के ध्यान में व्यवधान हुआ। आँख खुली तो उन्होंने अपने सम्पुख करबद्ध, नतशीष महाराजा हरिश्चन्द्र को खड़े पाया। आचार्य ने अपने स्वर में माधुर्य लाते हुए कहा—"राजन् ! हम आपके बड़े आभारी हैं, कृतज्ञ हैं आपके कि आपने हमारी रक्षा कर ली। वराह-व्यवधान से हमें मुक्त कर आपने आश्रम पर उपकार किया है। आप धन्य हैं। आपको असीम यश....." आचार्य के कथन के पूर्ण होते-होते तपस्वी भीतर आ गये और व्याकुल स्वरों में बोले—"आचार्यश्री अनर्थ हो गया....।" आचार्य अवाक् से, प्रश्नसूचक दृष्टि के साथ उन तपस्वियों की ओर ताकते रह गये। "हाँ प्रभो, हमारा सब कुछ छिन गया। वंचना की पालित मृगी का वध हो गया, आचार्यश्री !"—तपस्वियों ने अपना कथन पूर्ण किया।

एक क्षण को पीछे की ओर धक्का खाते हुए आचार्य श्री तनिक चौंके और गम्भीर हो गए। आहत स्वर में उन्होंने पूछा—"किसने यह अनर्थ किया है ? महाराज हरिश्चन्द्र के राज्य में यह पापपूर्ण साहस किसने किया ?"

आचार्य का मुखमण्डल तमतमा उठा। उनके नेत्रों में जैसे रक्त उतर आया। उनके कण्ठ में आकुलता समा गयी। कुछ क्षणों तक समग्र वातावरण में छाये मौन को तोड़ते हुए कुपित वाणी में उन्होंने फिर से पूछा—"महाराज हरिश्चन्द्र की उपस्थिति में यह दुस्साहस करने वाला दुष्ट कौन है ? महाराज से मैं अभी, इसी समय उस दुष्कर्मी का दण्ड विधान कराऊँगा। किसने यह अपराध किया है ?....." पुनः अटल मौन....

स्तब्धता। "कोई बताता क्यों नहीं ? क्या हमारा आश्रम भी इस षड्यन्त्र में सम्मिलित हो गया है ?" उद्विग्नता के साथ कुलपति बोले। "क्षमा करें प्रभु !" एक तपस्वी ने शीष झुकाकर निवेदन किया—"शूकर-वध के लिए आए राजन् द्वारा ही आश्रम को यह संताप मिला है आचार्यश्री ! इनके बाण से ही उस निरीह प्राणी को प्राण त्यागना पड़ा।" अगारमुख ने इसी समय प्रविष्ट होते हुए कहा।

"तो हमने जिसे बाड़ समझा, वही खेत को खा गया। रक्षक ही भक्षक बन बैठा"—कुलपति आचार्य की वाणी में रोष तीव्रतर होने लगा, उनका स्वर उच्च हो गया और आँखें कपाल पर चढ़ गयीं। क्रोधाभिभूत आचार्य की भौंहें वक्र हो गयीं और आसन त्याग कर वे खड़े हो गए। बोले—"रे दुष्ट ! तुझे हमने आश्रम को बचाने के लिए बुलाया था, इस प्रकार आश्रमवासियों के आँसुओं में उसे बहा देने के लिए नहीं।" अंगार-मुख की ओर उन्मुख होते हुए उन्होंने पूछा—"उस वन्य शूकर का क्या हुआ ?"

"प्रभो ! उस दुष्ट शूकर के स्थान पर ही तो हमारी यह निरीह मृगी राजन् के बाण का लक्ष्य बनी है।"—अंगारमुख ने आचार्य की रोषाग्नि को और प्रचण्ड करते हुए उत्तर दिया। कोपावतार कुलपति आचार्य ने कहा—तो यह कहो अंगारमुख, तुमने इस दुष्ट को अयोध्या से इसलिए बुलाया है कि हमारे तपोवन को शोकाग्नि में झोंककर यह चला जाय। हमारा संकट मिटाने नहीं आया था यह नराधम····नीच !! इसका सर्वनाश अब····"

महाराज हरिश्चन्द्र ने कथन पूर्ति के पूर्व ही विनीत स्वर में निवेदन किया—"यह पाप मुझसे हुआ है प्रभो····मैं पापी हूँ····आपका अपराधी हूँ। आप जो····"

"तू नहीं जानता पामर, कि तेरा पाप कितना जघन्य है !! तूने हम आश्रमवासियों को अंगारों पर लिटा दिया है। तुझे भी शान्ति नहीं मिले कभी। हमारी बिटिया वंचना की पालित हरिणी उसे प्राणों से प्रिय है। इसे उसने छौनावस्था से अपने पास रखा है। आज भी उसे नर्म-नर्म घास अपने हाथों से उसने खिलायी थी। समीप से सरयू घाट से स्वयं गागर भर कर लायी और उसे स्नेह के साथ वंचना बिटिया ने शीतल जल पिलाया

था। जब वंचना को यह अनर्थ ज्ञात होगा, वह तो शोकातुर हो उठेगी। उसका जीना ही दुष्कर हो जायगा। तू भयंकर पाप का भागी है। तुझे....''।

"आचार्यश्री ! मैं पापी हूँ, घोर पापी हूँ। मैं स्वीकार करता हूँ मेरा अपराध जघन्य है।"—अतिशय दीनता के साथ महाराज हरिश्चन्द्र ने कहा —"महाशय ! मुझे इस कृत्य पर अत्यन्त दुःख है, शोक है। ये तपस्वीजन साक्षी हैं, यह अपराध मैंने सोच-समझ कर नहीं किया। मैंने मृगी की हत्या नहीं की....मेरे हाथों अनजाने उसका वध हो गया। मैं तो शब्दवेधी शर-संधान कर रहा था। मेरा बाण शब्द स्थल पर जाकर लगा। झाड़ी में से जो शब्द आया वह किसका है ? वह इस मृगी का है- मुझे ज्ञात न हो सका। मुझे बताया गया कि वह दुष्ट शूकर ही इस झाड़ी में छिपा खड़खड़ाहट कर रहा है.....फिर भी मैं दोषमुक्त नहीं.....'' महाराज के कथन समाप्ति के पूर्व ही नायक बोल उठा—यह धोखा है महाराज.....षड्यन्त्र किया गया है आपके विरुद्ध। मृगी के गले में रस्सी.....उसे पहले से झाड़ी में बाँध रखा....।" महाराज ने बड़ी ही गम्भीरता के साथ उसे शान्त किया। बन्द होठों पर तर्जनी उँगली टिका कर उन्होंने उसे मौन रहने का संकेत किया। रोष के आवेग में उबलता हुआ नायक विवश होकर थम गया, किन्तु उसका मानस अब भी उद्वेलित था, व्यग्र था मानों क्रुद्ध बैल रस्से तुड़ा रहा हो। ऊपर से उसे मौन, शान्त हो जाना पड़ा। वह घोर अनर्थ होते हुए अब देख रहा था। इस मर्यादाहीनता के कारण नायक पर आचार्य श्री क्रुद्ध हो गये। उनकी क्रोधाग्नि मन्द होते-होते पुनः घृताहुति पाकर भड़क उठी—"राजा ! तू कुछ कहता है, तेरा यह दुष्ट सेवक कुछ अन्य ही कहता है। तुम्हारा साध्य क्या है ? मन्तव्य क्या है ? क्या अभीसिप्त है तुम्हारा ? तू विनय दिखाता रहे—तेरा यह धृष्ट दास -हमारा अपमान करता जाय। हमें तू इसके बहाने षड्यन्त्रकारी बताना चाहता है- हमें पाखण्डी बताना चाहता है। यही प्रयोजन है न तेरा ?"

महाराज एक नवीन संकट में फँस गये। दीनता और विनय के साथ उन्होंने निवेदन किया -"भगवन् ! यह मेरा सेवक अबोध है, मूर्ख है प्रभो ! यह नहीं जानता कि वह कैसी भूल कर बैठा है। अबोधता तो गुरुजनों के लिए सदा उपेक्षा और क्षमा का विषय रही है। क्षमा से गुरुजनों का गुरुत्व बढ़ता और रोष से घटता है प्रभो !" कुछ क्षण मौन विनय के साथ महाराज ने कहा—"भगवन् अपराधी मैं हूँ, मैं आपके अधीन हूँ। आदेश दीजिये प्रभो,

मैं प्रायश्चित्तकामी हूँ····मैं क्या करूँ कि पापमुक्त हो सकूँ प्रभो, कृपापूर्वक आज्ञा कीजिये·····।" विनय में हृदय परिवर्तन की अद्‌भुत क्षमता होती है। विनयशील व्यक्ति अपने घोर शत्रु को भी अपना हितकामी बना लेता है। महाराज के इस दैन्य से, कुपित आचार्य भी कुछ नर्म हुए। उनके स्वर में कुछ निम्नता आने लगी। इस अवसर का तुरन्त लाभ उठाने की प्रवृत्ति के साथ महाराजा हरिश्चन्द्र ने प्रार्थना की—"मैं निश्चय ही महापाप का भागी हूँ। मैं जब तक प्रायश्चित्त नहीं कर लूँगा इस पाप के लिए मेरी आत्मा मुझे कचोटती रहेगी प्रभो!" अपने स्वर में अनुनय की मृदुलता का समावेश करते हुए उन्होंने कहा—"प्रायश्चित्त की विधि का विधान कीजिये प्रभो! इस पश्चात्ताप के दाह से कृपया मुझे मुक्त कीजिए। यह उपकार सदा मेरे जीवन को आभारी रखेगा प्रभो, कृपा कीजिये।"

कुछ क्षण मौन रहने के उपरान्त कुलपति आचार्य ने अपराध की गहन-गम्भीरता का पुनः आभास कराते हुए कहा—"राजा! तूने ऋषियों को क्लेश दिया है। एक नहीं दो-दो प्राणियों की हत्या तूने की है। मृगी के वियोग में पुत्री वंचना का जीवित रहना असम्भव है और उसके दुःख में हम, उसके माता-पिता कैसे जीवित रह पाएँगे। तुझे इन पाँच हत्याओं का भारी पाप-भार ढोना है। कैसे तू इस सबको सहन कर सकेगा—इसका सोच आने पर तुझ पर दया भी आती है और····और तेने जो हानि हमारी की है उसे स्मरण करके अपार-अपार रोष····से आत्मा भर उठती है।"

"आपका कथन उपयुक्त ही है आचार्यश्री, मुझे प्रायश्चित्त का····" महाराज की बात बीच में ही अधूरी रह गयी। रोषावेश में कुलपति ने कहा—"प्रायश्चित्त····प्रायश्चित्त····भला क्या प्रायश्चित्त होगा, इस दुर्धर्ष पाप का और यदि होगा भी तो····तू भला क्या अपना सकेगा इसे। छोड़ प्रायश्चित्त को पाप का भार उठाना ही तेरी नियति है। इस पाप का भला क्या प्रायश्चित्त हो?"

हाथ के संकेत से महाराज को मौन करते हुए अंगारमुख ने कहा—"आचार्यश्री! आप तो करुणासिन्धु हैं, क्षमा के साक्षात अवतार हैं। सत्य है कि यह गुरुतर अपराध क्षमा-योग्य नहीं, किन्तु राजा ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया, विनयपूर्वक वह प्रायश्चित्त को तत्पर है। हमारी सहायता को ही यह वन में आया था—राजा को प्रायश्चित्त की अनुमति तो मिलनी ही चाहिए तात्!" राजा को अपना समर्थन बड़ा भला

लगा। जैसे डूबते को तिनके का सहारा ही पर्याप्त हो जाता है—उसे कुछ संतोष होने लगा। कुलपति आचार्य कुछ गम्भीर हो गये। बोले—"क्या प्रायश्चित्त हो सकेगा अंगारमुख"""क्या प्रायश्चित्त होगा ?"

विनयपूर्वक अंगारमुख ने पुनः निवेदन किया—"जो गम्भीर अपराध नरेश से हो गया है, उसका परिणाम तो इसके लिए भयानक है। उस आत्मदाह से बचने के लिए वह कुछ भी करने को तत्पर रहेगा""""" कुछ क्षणों के मौन के उपरान्त अंगारमुख ने आगे कहा—"एक ही प्रायश्चित्त इस पाप-मुक्ति के लिए है, और वह है—सर्वस्व त्याग का।" अपनी युक्ति को महत्ता देने के लिए वह क्षणेक के लिए पुनः मौन हो गया। "सर्वस्व त्याग के अतिरिक्त अन्य कोई प्रायश्चित्त मुझे नहीं दिखाई देता आचार्य श्री"—अंगारमुख ने अपना कथन समाप्त किया।

"उपयुक्त ही है अंगारमुख, उपयुक्त है। यही एकमात्र उपाय है, किन्तु क्या इसे यह अपना सकेगा ?" अपने कथन को प्रश्नांकित करते हुए उपकुलपति आचार्य ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फिराया और व्याख्या करते हुए कहा—"सर्वस्व त्याग का अर्थ है—राजा का अधिकार केवल स्वयं अपने पर, अपनी पत्नी और पुत्र पर रह जायगा—शेष सारा स्वामित्व समाप्त हो जायगा।"

अंगारमुख ने तब महाराज हरिश्चन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा—पाप-ग्रस्त राजा सुनो, यदि तुम प्रायश्चित्त करना ही चाहते हो तो तुम्हें अपना सारा राज्य, सम्पदा, राजकोष, शासन, सैन्यादि सब कुछ कुलपति आचार्य को दान कर देना होगा। तुम्हें और तुम्हारे अधिकार के प्राणी पत्नी, पुत्र को इस राज्य की धरती पर खड़े रहने का भी अधिकार नहीं होगा। कर सकोगे यह दान ?"

पाप-भीरु महाराज को तो केवल एक ही चिन्ता थी—अपनी आत्मा को निष्कलुष कैसे करे, यह पाप-मोचन कैसे हो ? इस मूल्य पर भी कार्य सिद्धि उन्हें सस्ती प्रतीत हुई। नायक अभी भी वहीं उपस्थित था। उसे लग रहा था कि अनीति हो रही है, किन्तु उसका मुख बन्द था। महाराज ने गिड़गिड़ाते हुए प्रार्थना की—"मुझे स्वीकार है —सर्वस्व दान करने को तत्पर हूँ मैं।"

तभी अंगारमुख ने आचार्यश्री से अनुरोध किया—"प्रार्थना स्वीकार कर लीजिये भगवन ! राजा पर दया कीजिए। इसका दान ग्रहण

कीजिए कि यह पाप मुक्त हो सके।" कुलपति आचार्य ने रंच मुस्कुराते हुए महाराज की ओर अभयदान करते हुए हाथ बढ़ाया और स्वीकारात्मक रूप में शीष हिलाते हुए अपना कमण्डल उनकी ओर बढ़ा दिया। महाराजा हरिश्चन्द्र को मानो स्वर्गिक सुखानुभव होने लगा। उन्होंने कमण्डल का जल अंजलि में भरा और कहा—"आज से, इसी क्षण से मेरा सारा राज्य, सम्पदा, धन-धान्य, शासन, कोष, सैन्यादि पर हे कुलपति आचार्य, आपका अधिकार होगा। मैं सर्वस्व दान करता हूँ। अब मेरी पत्नी-पुत्र के अतिरिक्त कुछ भी मेरा अपना नहीं रहेगा।"—कहते हुए महाराज ने अजलि का जल धरती पर छोड़ दिया। सर्वस्व दान सम्पन्न हो गया।

कुलपति आचार्य ने वाचिक रूप से यह दान स्वीकार किया और गुरु गम्भीर वाणी में कहा—"आज से तुम्हारा सब कुछ अब हमारा हो गया। कल हम अपना अधिकार ग्रहण करने को राजधानी में आएँगे। तब तक तू राज्यासन पर बैठेगा और शासन करेगा।"

महाराज ने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर लगाये, मस्तक झुकाकर अनुग्रह स्वीकार किया—बोले "आपकी आज्ञा का पालन होगा प्रभो! आपने मुझे पाप सागर से तार लिया, मेरा रोम-रोम अनुगृहीत रहेगा आचार्यश्री! अब आज्ञा दीजिये।"—कहते हुए महाराज से पुनः कुलपति आचार्य को नमन किया।

इसी समय मानो नाटक का अंक परिवर्तन हुआ। सामने की कुटिया से निकलकर रोती-कलपती वंचना अपने पिता के पास आयी। माता निकृति बड़ी कठिनाई से उसे सहारा देकर ला पायी थी। वंचना की रो-रो कर बुरी हालत हो गयी थी। माता के कधे पर शीष रखकर ही वह यहाँ तक आ पायी थी। उसके नेत्र लाल और पलकें भारी हो गयी थीं। अश्रु प्रवाह चल ही रहा था। अपनी हिचकियों को दबाते हुए उसने महाराज की ओर इंगित कर कहा—"क्या यही वह नराधम, पामर है, जिसने हमारी प्यारी मृगी के प्राणों का हरण किया है? क्या इसी ने हमारी सुख-शांति को छीन कर हमें अग्नि में झोंक दिया है। पिताश्री मैंने निश्चय किया है कि प्यारी मृगी के साथ मैं भी चितारूढ़ होकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दूँगी।" और वह फफक कर रो पड़ी। माता ने उसकी पीठ थपथपाते हुए संतोष रखने को कहा और स्वयं भी रो पड़ी। माता-पुत्री का रुदन-क्रन्दन कुलपति आचार्य को आकुल-व्याकुल कर उठा। अधीरता से लिप्त

अपनी वाणी को कुछ संयत करते हुए उन्होंने कहा—"बेटी, धीरज धरो। राजा ने अपना पाप स्वीकार कर लिया है और वह बड़ा दुःखी है। दया का पात्र है यह। इसे क्षमा कर दो। राजा ने अपना राज-पाट, सब कुछ हमें दान कर दिया है।"

पिताश्री राज-पाट आपको मिला। आप सन्तुष्ट हो गये। राजा का प्रायश्चित्त हुआ वह पाप-मुक्त हो गया। प्यारी मृगी तो मेरी गयी, बाण उसके उदर में नहीं, मेरे हृदय में लगा है। मुझे""मुझे क्या मिला? मैं आत्मदाह करूँगी। इसी समय इस पापी राजा के समक्ष अपनी मृगी के साथ चितारूढ़ हो जाऊँगी।

महाराजा के लिए चिन्ता का यह नया विषय उठ खड़ा हुआ। वंचना की मांग में उन्हें यथार्थ का अनुभव हो रहा था। वंचना ने जो आत्मदाह की नयी परिस्थिति खड़ी कर दी थी महाराज उससे विचलित हो उठे। इस नये पाप से वे फिर कैसे मुक्त होंगे। व्याकुल स्वर में उन्होंने हाथों से नकारात्मक संकेत करते हुए अनुरोध किया—"नहीं""ऋषिकन्ये! ऐसा न करना। ऐसा कदापि नहीं करना। मैं स्वीकार करता हूँ कि मृगी के मरण से आपकी व्यक्तिगत हानि हुई है। हार्दिक पीड़ा कदाचित आपको ही सर्वाधिक हुई है। मुझे अपने कृत्य पर घोर दुःख है। मुझे क्षमा कर दीजिये।"

"क्षमा क्षमा""क्षमा। क्षमा कर देने से भी मुझे क्या लाभ? हाँ, मुझे क्या प्राप्त होने को है। मैं आत्मदाह के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं पाती।" इतना कह वंचना क्रंदन करने लगी। आश्रम के एक कोने में चिता निर्मित कर ली गयी थी। मृत मृगी को चढ़ाया जा चुका था। चिता की ओर संकेत करते हुए उसने माता से कहा—"अब मुझे चिता पर ही शान्ति मिलेगी माँ, मुझे उसी ओर ले चलो। प्यारी मृगी मेरी प्रतीक्षा कर रही है।"

महाराज का हृदय भर आया। उन्होंने वंचना का मार्ग रोकते हुए कहा—"नहीं ऋषिकन्या नहीं ऐसा कर मुझे और पाप का भागी नहीं बनाना। मैं आपके संतोष के लिए आपको एक लक्ष स्वर्ण मुद्रा भेंट करने का वचन देता हूँ। मेरी प्रार्थना स्वीकार करो और आत्मदाह का विचार त्याग दो।" स्वर्ण की कान्ति निराशा और निस्तेज को दूर कर देती है। वंचना ने महाराजा की बात सुनी, सुनकर एक स्फूर्ति उसमें जागी। उसने

माता के कंधे से अपना शीष उठाया। माता ने भी उसकी कमर से अपने हाथों का बन्ध शिथिल किया। राजा की ओर देखकर वह बोली "अपराध तो तेरा बड़ा विषम है, किन्तु तेरी दशा पर दया भी आती है। तेरे इस प्रायश्चित्त के लिए मैं अपनी अनुमति दे देती हूँ। कल अंगारमुख को मुद्राएँ सौंप देना।" इतना कह वंचना ने दूर से ही हाथ उठाकर संकेत किया। चिता प्रज्वलित हो गयी। देखते ही देखते चिता से ज्वालाएँ उठने लगीं। आकाश में धूम्र-समूह दिखायी देने लगा। कुछ क्षण मौन खड़ी रह कर वंचना अपनी कुटिया की ओर बढ़ गयी। महाराजा आश्रम के मुख्य द्वार की ओर बढ़े। उनके मन में एक सन्तोष, एक प्रसन्नता थी। सच्चा सुख ऐश्वर्य और सुख-साधनों के अम्बार में नहीं होता। प्रसन्नता तो निश्चिन्त मन की उपज होती है। महाराजा ऐसी ही प्रसन्नता में झूमते हुए राजधानी की ओर बढ़े।

४

संध्या समय राजप्रासाद सूर्य की रश्मियों से जगमगा उठा। दिन भर की प्रचण्ड ग्रीष्म के पश्चात इस समय अपेक्षाकृत कुछ शीतलता अनुभव की जाने लगी। मन्द पवन भी चल पड़ी थी। महाराजा हरिश्चन्द्र भी एक दीर्घ चिन्तन और मनोमन्थन के पश्चात अब शान्त मनस्कता की स्थिति में आने लगे थे। उन्हें अपने वंश की मर्यादा का ध्यान आया और वे गर्व का अनुभव करने लगे कि मैंने उसी के अनुरूप आचरण किया है। सूर्यदेव की वह वाणी पुनः-पुनः मन में गूंज उठती कि जिसने वचन-पालन नहीं किया, उसका जीवन अकारथ रह जाता है। उसके समस्त पुण्य तरु सूख कर निष्फल रह जाते हैं। इस संदेश ने महाराज के थकित श्रमित मन को बल दिया।

महाराज को वन से लौटकर एक असाधारण मुद्रा में जब महारानी सुतारा ने पाया, तो उनका मन उद्विग्न हो उठा। उन्होंने महाराज को कभी ऐसी दीन दशा नहीं देखी। जब महारानी ने अनेक प्रश्नों से बार-बार महाराज को कुरेदना आरम्भ किया तो बड़ी ही कोमलता के साथ उन्होंने कहा—"सुभगे, मुझे कुछ समय के लिए एकाकी छोड़ दो।" और रानी सुतारा अपने नन्हे राजपुत्र रोहिताश्व की उँगली थामकर एक आज्ञाकारिणी की भाँति वहाँ से चल दीं। उन्होंने इसका कारण जानने का प्रयत्न भी नहीं किया। कुमार रोहिताश्व की नन्ही-नन्ही जिज्ञासाओं को सुलझाने लगीं—उसे सत्यवीरों की कथा कहने लगीं। बाल कुमार शीघ्र ही निद्राधीन हो गया। महारानी ने महाराज से कारण नहीं पूछा कि वे एकाकी क्यों रहना चाहते हैं—उन्होंने पूछना उपयुक्त ही नहीं माना, पर अब अपने एकाकीपन में महारानी ने स्वयं से यही प्रश्न किया। वह सोचकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहती थीं। उन्होंने इतना अवश्य पाया कि वन के लिए प्रस्थान के समय जो उल्लास महाराज के मुख-मण्डल पर था—वही लौटने पर भी था, किन्तु वे कुछ आत्मलीन थे, चिन्तन में लगे हुए थे।

अवश्य ही कोई विशेष बात रही होगी—महारानी इसी प्रकार कुछ सोचती चली जा रही थीं कि उनकी विश्वासपात्र चन्द्रिका दासी हांफती दौड़ती उनके कक्ष में आ पहुँची। कुछ क्षणों तक तो वह घबराहट के मारे कुछ बोल ही नहीं सकी। उसके नेत्रों से उसकी उद्विग्नता स्पष्ट हो रही थी। महारानी सुतारा ने उसे आश्वस्त किया, प्रबोधनपूर्वक उसे अपनी ममता और आत्मीयता दी। क्रमशः उसे अपनी बात बताने को प्रेरित किया। चन्द्रिका कुछ स्वस्थ हुई तो बोली—"महारानी जी""महारानी जी बात ही कुछ ऐसी है""कैसे कहूँ ? हम पर भारी विपत्ति आन पड़ी है""हम""" इतना कह कण्ठावरोध के कारण वह कुछ क्षणों के लिए मौन हो गयी। उसकी साँस फिर से तीव्र होने लगी। पीठ पर हाथ फिराते हुए महारानी ने उसे पुनः आश्वस्त किया—"व्याकुल न हो चन्द्रिका ! जो तूने सुना है वह साफ-साफ बता दे। विपत्ति तो जो आनी है, वह आकर ही रहेगी। हमारे विचलित होने से वह रुक तो नहीं जायगी। बता""क्या होने वाला है ? बोल चन्द्रिका, बोल""।" महारानी ने उसे उत्साहित किया। सांत्वना पाकर वह कुछ स्वस्थ हुई।

चन्द्रिका ने तब साहस बटोरकर कथन आरम्भ किया—"स्वामिनी महाराज ने अपना सब कुछ त्याग दिया है, राज-पाट सब कुछ दान कर दिया है""किसी साधु को। जीवन कैसे चलेगा महारानी जी कैसे""?"

"पगली चन्द्रिका, बस इस इतनी सी बात के कारण तू इतनी चिन्तित है। नादान कहीं की"—महारानी ने धैर्य के साथ कहा—"उन्होंने क्या मेरा भी परित्याग कर दिया है ?"

"नहीं""महारानी जी नहीं, आप और राजकुमार बस इन दो को छोड़, उनके पास किसी का भी स्वामित्व नहीं रहा—वे"—चन्द्रिका को बीच में ही टोक कर रानी सुतारा ने कहा—"फिर आकुलता की कोई बात नहीं, न तो मैंने कुछ खोया है, न ही महाराज ने कुछ खोया है। तू निश्चिन्त रह""हाँ। सब कुछ ठीक हो जायगा।"

इसी समय महाराज के आगमन की सूचना मिली। चन्द्रिका कक्ष से बाहर हो गयी। महारानी महाराज की प्रतीक्षा करने लगीं। महाराज ने कक्ष में प्रवेश करते ही अपना कथन आरम्भ कर दिया—"सुतारा, प्रेयसी सुतारा !! अब कुछ ही प्रहर के लिए मैं अयोध्यानरेश और तुम रानी हो। अब हमें दीन-अकिंचन की दशा में रहना होगा। यही हमारी नियति है।

मैंने कुलपति आचार्य को सर्वस्व दान कर दिया है। यह राज्य, यह सम्पदा कल वे ग्रहण कर लेंगे।"

महारानी ने महाराज के निश्चय में औचित्य प्रकट करने का प्रयत्न किया, किन्तु महाराज ने उन्हें बीच में ही रोकते हुए कहा—"प्रियतमे! मुझे इस बात की खिन्नता नहीं है कि वैभव के दिन बीत गये और अब विपन्नता का समय आ गया है—दुःख तो इस बात से है कि तुम और प्यारे रोहित पर क्या बीतेगी? तुम लोग कैसे इन कष्टों का सामना करोगे?" कहते-कहते फिर महाराज कुछ खिन्न होने लगे।

महारानी सुतारा ने अविचलित भाव के साथ कहा—"मैं सब सुन चुकी हूँ महाराज, सब सुन चुकी हूँ। जब से मुझे ज्ञात हुआ है कि आपने राज्य दान कर दिया तभी से मुझे एक अपूर्व गर्व का अनुभव हो रहा है। खिन्नता रही तो बस इस बात को लेकर कि इस शुभ संदेश के लिए भी आपके मन में संकोच क्यों हुआ। आपने सन्देह किया मेरे प्रति स्वामी! कि मैं आपके त्याग का स्वागत नहीं करूँगी, कहीं मैं आपके निश्चय का विरोध नहीं करने लग जाऊँ।"

"नहीं यह कारण नहीं रहा सुतारा ऐसा तो मैं सोच ही नहीं सकता। मैं यह अप्रिय प्रसंग कैसे आरम्भ करूँ बस यही मार्ग नहीं मिल पा रहा था। जब इसका साहस जुट गया, मैं स्वयं तुम्हारे पास आ गया।" महाराज ने सधीर सारी बात कह दी। महारानी ने महाराज के कथन पर आपत्ति की और कहा—"स्वामी! आपने यह कैसे माना कि यह प्रसंग मेरे लिए अप्रिय होगा। मैं तो पति के चरणों में ही अपना स्वर्ग मानती हूँ। मेरा यह अधिकार अब भी बना हुआ है। मुझे और क्या चाहिए भला!" महाराज ने अपने प्रयोजन पर आते हुए कहा—"तुम कोमल हो, राजसी सुखों के लिए ही तुम्हारा जन्म हुआ है। रोहित बालक है। मेरे किये के दुष्परिणाम तुम लोग क्यों भोगो, तुम उन कष्टों के लिए नहीं" महाराज कहते-कहते रुक गये। महारानी ने तभी बात सँभाल ली। कहने लगीं—"स्वामी, आपके हमारे सुख-दुःख पृथक-पृथक नहीं हो सकते। पति-पत्नी का भाग्य यदि एक न हो जाय, दोनों समान रूप से सुखी अथवा दुखी न रहें, तो उनके दाम्पत्य सूत्र में कहीं शिथिलता अवश्य रह गई है। स्वामिन्, आपके सुख को मैं अपने लिए दुःख मानूँ तो इसका अर्थ यह होगा कि आपके निर्णय से मैं सहमत नहीं हो पा रही हूँ। ऐसा स्वप्न में भी, मेरी

छाया से भी सम्भव नहीं है। आपने धर्माचरण के साथ ही, यह सुखपूर्वक निश्चय किया है, आपसे असहमत होकर मैं दुःखी रहूँ तो अर्द्धांगिनी कैसे कहलाऊँगी। कोई परिस्थिति शरीर के आधे अंग के लिए सुख और शेष आधे के लिए दुःख का कारण नहीं बन सकती महाराज! आपका सुख, हमारे लिए भी सुख ही है। धर्म दुःख का कारण बन ही नहीं सकता, प्रभो! यह राज्य, यह वैभव, यह सत्ता और सम्पदा सब अनित्य है—आज नहीं तो कल यह हमसे विदा होंगे—यह शरीर भी इसी गति का है। मात्र धर्म ही तो नित्य है, शाश्वत और चिरन्तन है। इस अनश्वर धर्म की संगति ही सदा-सदा बनी रहती है। धर्म को बचा लिया तो सार-सार को बचा लिया। शेष सभी को जाने दिया तो मानो भूसा-तुस को उड़ जाने दिया है। मैं महाराज आपके निर्णय से प्रसन्न हूँ। सुखी हूँ कि आपने इस अनित्य सम्पदा के मोल से, नित्य और अनश्वर धर्म को रक्षित कर लिया। माया के छलावे आपको जकड़ नहीं सके स्वामी, आप धन्य हैं, धन्य हैं मेरे स्वामी आप....'' कहते-कहते महारानी सुतारा का कण्ठ भर आया, भावावेग से उनकी वाणी अवरुद्ध हो गयी। शेष कथन नयनों ने पूरा कर दिया। उनसे जो अश्रु प्रवाहित हो रहे थे वे महारानी के आन्तरिक सुख की गाथा कहते थे। महाराजा ऐसी पतिव्रता पत्नी पाकर धन्य हो उठे। उन्हें इस महिमामयी पत्नी पर गर्वानुभव होने लगा। पत्नी के सुविचार से आनन्दित महाराजा हरिश्चन्द्र के नेत्र भी आर्द्र हो उठे। उनका चित्त प्रफुल्लित हो गया। अपने आन्तरिक विचारों का बाहरी अनुमोदन पाकर व्यक्ति का सन्तोष और सुख स्वाभाविक ही है।

संध्या समय अरुण सूर्यदेव अस्ताचलगामी थे। गवाक्ष से सरयू पार का सूर्यास्त का यह दृश्य बड़ा मनोरम लग रहा था। महाराज के मन में प्रतिध्वनित होने लगा, वही संदेश—चन्द्र सूर्य चाहे अपनी दिशा त्याग दें, परन्तु सत्यव्रती अपना वचन नहीं त्यागता। सत्य-रक्षा उसका परम धर्म होता है। महाराजा हरिश्चन्द्र शान्त भाव से उठे और धर्म क्रियाओं के लिए तत्पर हो गये।

△△

हम बल का प्रयोग भी करेंगे" और महामात्य का हाथ-सहज ही अपने धनुष पर गया, उनकी पकड़ सुदृढ़ हो गयी। अन्य सभासदों पर समर्थन-सूचक भाव दृश्यमान हो गया।

"शान्त हो जाइये महामात्य, शान्त हो जाइये सभासदो! यह अवसर न व्यग्र होने का है, न उत्तेजित होने का। चंचलता छोड़ धीरज का व्यवहार कीजिये। हमने दान किया और राज्याधिकार अब आचार्यश्री का हो गया है। यह स्थिति अब अटल हो गयी है। इसमें परिवर्तन की चेष्टा व्यर्थ है। व्यर्थ है अब किसी ..."

"किन्तु नरनाथ! आपसे इन कपटियों ने धोखे से दान करा दिया वहाँ कोई शूकर था ही नहीं। न कोई विनाश या व्यवधान उस आश्रम में था। हमारे सैनिकों ने आश्रम में या आसपास कोई विनाश नहीं देखा"—एक सामन्त ने कहा। तभी अन्य मन्त्री बोल उठा—"हमें तो संदेह है यह आश्रम, ये तपस्वी, ये कुलपति—कुछ वास्तविक है भी सही, अथवा नहीं। यह सारी माया तो नहीं ...।"

"ऐसा न कहो ... ऐसा न कहो....यह उचित नहीं।" महाराज ने गम्भीरता के साथ कहा—"सुनिये ... मैंने अपनी आँखों से सब कुछ देखा है। यह छल नहीं हो सकता।"

"किन्तु महाराज वहाँ कोई शूकर था ही नहीं इतना तो सत्य है" —महामात्य वसुभूति ने कहा।

"नहीं ... यह सत्य कदापि नहीं है। मैं शूकर का वध करने को ही तो गया था ।" महाराज ने अपनी बात पूरी भी नहीं की थी कि वसुभूति ने उन्हें टोका—"और आपके हाथों गर्भिणी हरिणी की हत्या हो गयी यही न। कैसा आश्चर्य है कि जिस झाड़ी में शूकर छिपा था, उसी में हरिणी भी छिपी थी। दोनों एक ही स्थान पर? महाराज इन पापियों ने पहले से हरिणी को झाड़ियों में बाँध रखा था—उसके गले में एक रस्सी बँधी थी—वह क्यों थी?"

"महामात्य ... अब यह विवेचना का विषय नहीं रह गया ..." महाराज बात की दिशा बदल देना चाहते थे, बोले—"अब तो हम सर्वस्व दान कर ही चुके हैं।" "आपने यह दान नहीं किया महाराज! आपसे छल-पूर्वक उन वंचकों ने सब कुछ ठग लिया है। आप अपना सर्वस्व इस प्रकार उन पाखंडियों को क्यों दे रहे हैं? हम उन्हें मना कर देंगे।"

महाराज ने प्रबोधन की मुद्रा में उनसे कहा—"सुनो साथियो, आज मैं भी आप लोगों में से एक हो गया हूँ। अयोध्या का राजा अब मैं नहीं हूँ। यह राज्य-वैभव, यह सम्पदा-सत्ता सब कुछ अनित्य है। सदा तो यह साथ रहेगी नहीं, तो आज ही उसका त्याग क्या बुरा है। हम वचन दे चुके हैं, हमारे वचन निरर्थक नहीं हो सकते हैं। वसुभूति! धन-वैभव तो माया है, पत्थर पर खिची पानी की रेखा के समान है, कब लुप्त हो जाय, रेत की दीवार है, कब ढह जाय—कुछ कहा नहीं जा सकता। इसके लिए धर्म से, कर्तव्य से, सत्य से मुख मोड़ना नीतिसंगत नहीं। मैंने अन्तिम निर्णय कर लिया है—मैं अपने वचन का पालन करूँगा -यही मेरा धर्म है, कर्तव्य है। मैं इससे मुख नहीं मोड़ सकता—मुझे चाहिये भी नहीं। चाहे मेरी जीवन लीला ही समाप्त क्यों न हो जाये "मैं सत्य पालन के मार्ग से विचलित नहीं हो सकता, यही हमारी वंश मर्यादा है। इसी में हमारा गौरव है।" तभी पिंजरबद्ध मैना गा उठी—

"धरती का हरिश्चन्द्र महान "

तभी राजसभा के मुख्य द्वार की ओर से कुलपति आचार्य की जय-जयकार की उच्च ध्वनि आने लगी। सभी सतर्क हो गये। महाराजा अपने आसन से उठ, नीचे उतरकर अगवानी के लिए द्वार की ओर बढ़े।

कुछ पलों में कुलपति आचार्य ने सभा-भवन में प्रवेश कर लिया। उनके पीछे-पीछे कुछ तपस्वी आ रहे थे। महाराजा हरिश्चन्द्र कुलपति के साथ-साथ चलते हुए सिंहासन के सामने आकर रुके। राजसभा की साक्षी में महाराज ने स्वयं पर कुलपति आचार्य का उपकार स्वीकार किया—"आचार्यश्री! आपने मुझ पर अनन्त कृपा की कि सर्वस्व दान स्वीकार कर मुझे घोर पाप का प्रायश्चित्त करने दिया, उस पाप की फांस से मुझे मुक्त किया। इस महती कृपा और करुणा के लिए मैं परम अनुगृहीत हूँ। आप दया न करते तो मैं जाने किस दुर्दशा को प्राप्त होता। आप दीनबंधु हैं, कृपासिंधु हैं, करुणा-सागर हैं। जन्म-जन्मान्तर में भी मैं आपका यह उपकार विस्मृत नहीं कर पाऊँगा।"

कुलपति आचार्य प्रसन्न हुए, उनकी शिष्य-मण्डली में संतोष व्याप्त हुआ। सारी सभा में सन्नाटा फैला हुआ था। महाराज ने तब राज्यासन की ओर संकेत करते हुए कहा—"प्रभो! अब आसन पर विराजिये, राज्य ग्रहण कीजिये और मुझे दायित्व-भार से मुक्त कीजिये, आचार्यश्री! मुझे मुक्त कीजिये।"

आचार्य श्री आसन की ओर अग्रसर होने लगे, तभी अपना पैर पीछे खींचते हुए तनिक रुक्ष स्वर में बोले—"हरिश्चन्द्र ! अब राज-पाट तो हमारा हो ही गया। राज्यासन, राजमुकुट, राजकोष, सैन्यबल, प्रजाजन, शासकीय कर्मचारी, प्रासाद और वैभव सब कुछ हमारा हो ही गया है। इस सब को ग्रहण कर ही लेंगे। पहले तू एक ऋण तो उतार। वंचना को तूने एक लक्ष स्वर्ण मुद्रा देने का वचन दिया था। अपने वचन की पूर्ति कर। स्वर्णमुद्राएँ अंगारमुख को दे""अविलम्ब दे। बिटिया वंचना प्रतीक्षा कर रही है।"

"हाँ प्रभो ! यह वचन भी मुझे पूर्ण करना ही है"—महाराज हरिश्चन्द्र ने स्वीकार किया और कहा, "लीजिये, पहले इसकी पूर्ति किये देते हैं।"—महाराज ने अपना कथन समाप्त करते हुए कोषाधिपति को संकेत किया और वह एक स्वर्ण थाल में भारी लाल थैली लिए प्रस्तुत हो गया।

सहसा अपने स्वर में तीक्ष्णता लाते हुए अंगारमुख बोल उठा—"सावधान ! हरिश्चन्द्र, सावधान !! जानता है तू क्या कर रहा है ? न तो यह कोषाधिपति अब तेरा है कि तेरा आदेश माने, न यह स्वर्ण तेरा है कि जिसे तू अपना वचन पालने के लिए प्रयुक्त कर सके। सब कुछ तो तू आचार्यश्री को दान कर चुका है। जो तेरा नहीं, वह तू कैसे दे सकता है ?"

अन्य तपस्वी इसी समय बोल उठा—"हरिश्चन्द्र का, अभी महाराज वाला अभ्यास छूटा नहीं हैं। भूल नहीं पाया है कि वह अयोध्या का अधिपति है।"—कहते-कहते वह अट्टहास कर उठा। अन्य तपस्वीजन उपहासात्मक हँसी हँसने लगे। कुलपति ने भी इसमें योग दिया और नृपति हरिश्चन्द्र का मुख विवर्ण हो उठा। महाराज का यह अपमान सभासदों को सहन नहीं हो पाया। राजसभा में रोष छा गया—मौन आवेश व्याप्त हो गया।

महाराज हरिश्चन्द्र ने स्वीकार किया—"आचार्यश्री का कथन यथार्थ ही है। इस धन पर मेरा अब कोई स्वामित्व नहीं रह गया। वास्तव में यह मेरी भूल थी, किन्तु आचार्यश्री मैं वचन-पालन से विमुख नहीं हो सकता। मैं इस समय असहाय अवश्य हूँ, साधनहीन हूँ, कोई सम्पत्ति मेरे पास नहीं है, फिर भी अपने वचन पालन का कोई मार्ग तो सोचना ही होगा""।" "अब अभिनय बन्द कर। क्या देगा ? कहां से देगा ?"—कुलपति आचार्य ने क्रोध में अपना पैर पटकते हुए कहा—"हमें इससे कोई

प्रयोजन नहीं कि तू कौन सा मार्ग पकड़ता अथवा छोड़ता है। हमें प्रयोजन हमारी स्वर्ण मुद्राओं से है। या तो तत्काल दे, या वचन-पालन से अपनी असमर्थता घोषित कर, अपने वचन वापस ले ले। हमारे पास व्यर्थ बातों के लिए समय नहीं है।"—आचार्यश्री के सकोप नेत्र आरक्त हो उठे। उनके पैर काँपने लगे। उनकी वक्रभृकुटियाँ बड़ी देर तक प्रकृत नहीं हो पायीं।

यह मुद्रा देखकर महाराजा को कुछ आत्मग्लानि हुई। आचार्यश्री की इस मानसिक पीड़ा के लिए क्षमायाचना करते हुए उन्होंने कहा—"कृपया रुष्ट न होइये। आज मेरे पास धन नहीं है। कल तो मेरे श्रम से अर्जित मेरा धन मेरे पास हो ही सकेगा। मैं उस भावी धन का अग्रिम व्यय करने को भी तत्पर हूँ प्रभो! मैं ऋण लेकर इस समय स्वर्ण मुद्राएँ आपको भेंट करता हूँ, बाद में उऋण होता रहूँगा।" इतना कह कर उन्होंने नगर श्रेष्ठी से ऋण का अनुरोध किया। नगर श्रेष्ठी ने तत्काल धन प्रेषित भी कर दिया। कुलपति ने आपत्ति की—"नगर श्रेष्ठी अयोध्या का नागरिक है, प्रजा है। इस पर अब तेरा नहीं हमारा आधिपत्य है—तू इसके धन का रंचमात्र भी, किसी भी रूप में उपयोग नहीं कर सकता। यह ऋण तुझे वचन-पालन से उऋण नहीं कर सकता।"

विवश महाराज हाथ मलते और सभासद दाँत पीसते रह गये। "कह क्यों नहीं देता नीच! कि तू अपने वचन को पूरा नहीं कर सकता···· तू तो रंक है····है क्या तेरे पास?" लताड़ बताते हुए सरोष कुलपति आचार्य ने कहा। "तो तुम कौन से कुबेर हो··· दान की सम्पत्ति पर इतराते हुए तुम्हें लाज भी तो नहीं आती"—कहते हुए महामात्य सहसा रोष से भर उठा। कैसे साधु हो—माया में ग्रस्त तो है मन तुम्हारा····तुम्हें धन सम्पदा और स्वर्ण मुद्राओं से क्या लगाव! पाखंडियों के चक्कर में फँस गये हमारे महाराजा, बेचारे सब-कुछ खो बैठे और ये हैं कि तिस पर भी अपमान किये जा रहे हैं। अब क्या चाहते हो?"

महाराज महामात्य के अविनय पर, उसकी अशिष्टता पर खेद व्यक्त करने लगे—उस अबोध को क्षमा करने की प्रार्थना करने लगे, किन्तु कुलपति आचार्य का क्रोध सीमा ही पार कर गया। उन्होंने आवेश में आकर कमण्डल का जल अंजलि में भरा और अभिशाप देते हुए वसुभूति पर छिड़क दिया। तुरन्त वसुभूति धूम्र-समूह में घिर गया। उसके शरीर का आकार

छोटा होता गया और धुएँ में लुप्त हो गया। जब कुछ क्षणोपरान्त धुआँ कम हो गया तो एक तोता उसमें से उड़ा और वसुभूति के बिछे आसन पर जा बैठा, वहाँ से उड़कर वह मुख्य द्वार की ओर चला गया, मुक्त आकाश में विचरण करने लगा।

"हमसे वैमनस्य ठानने वालों की यही दशा होती है, देखले हरिश्चन्द्र ! देख ले। अब भी विचार ले""तू अपना वचन वापस ले ले""इसी में तेरा भला है"—कुलपति आचार्य ने प्रबोधन देते हुए कहा। महाराजा ऐसा कैसे कर लेते। "प्राण जाए, पर वचन न जाहिं'—व्रत के धारक यों साहस हारने वाले नहीं होते। महाराज किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। उन्हें कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था, करें तो क्या करें ! राजसभा की गतिविधियाँ तीव्र हो गयी थीं। ऊँचे स्वर में होने वाले संवादों से रनिवास में खलबली मच गयी। रानी सुतारा से नहीं रहा गया। वह भीतरी मार्ग से रनिवास दीर्घा में पहुची। जो दृश्य देखा वह दंग रह गयी। महाराज गिड़-गिड़ा रहे हैं। दैन्य उनके रोम-रोम में बसा हुआ है। वे कुलपति आचार्य के चरणों में झुके हैं और निर्दयता पूवक उनके मस्तक पर पदाघात करते हुए आचार्य भर्त्सना के स्वर में कह रहे हैं "सब कुछ खोकर भी तुझे इतना अभिमान है, इतना अहं है तुझे अपनी सत्यवादिता पर, निर्लज्ज यदि इतना ही वचन पालक है तो क्यों नहीं दे देता है स्वर्ण मुद्राएँ।"

कुलपति आचार्य तो यह कहकर मौन हो गये, किन्तु सुतारा के मन में आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। कोई भी सती नारी अपने पति-परमेश्वर की यह दशा कैसे देख सकती है। किन्तु वे भी असहाय थीं। महाराजा और उनकी रंकता तो समानान्तर रूप में ही थी, एक दूसरे की पर्याय थी। वह धीमे-धीमे दीर्घा से उतरकर महाराज के समीप खड़ी हो गयीं। उन्होंने कुलपति आचार्य की वन्दना की और मौन खड़ी रह गयीं। रानी सुतारा की उपस्थिति ने अंगारमुख के मन में एक नयी योजना का स्फुरण कर दिया।

महाराज का यह घोर अपमान सभासदों के लिए दुस्सह हो उठा, किन्तु वे अपना कर्तव्य नहीं खोज पा रहे थे। वसुभूति का दुष्परिणाम देख कर वे आतंकित भी थे और कुलपति का प्रतिकार भी करना चाहते थे। दृढ़ प्रेरणा आतंक की सारी बेड़ियाँ तोड़कर मनुष्य को मनोनुकूल कर गुजरने की क्षमता दे देती है। वह बाहरी परिस्थितियों का भय त्यागकर

अन्तःकरण के मार्ग पर साहसपूर्वक चल पड़ता है। ऐसी ही दशा महाराज के परिचारक कुन्तल की थी। उसके मन में स्वामिभक्ति उत्ताल तरंगें लेने लगी थी। उसने महाराज का अन्न खाया था। वह महाराज के हितार्थ प्राणोत्सर्ग के लिए भी हँसते हुए तत्पर था। उसने सारा भय त्यागकर निवेदन किया—"महाराज! अब मुझे सेवा का अवसर प्रदान कीजिये—मुझे आचार्यश्री के हाथों विक्रय कर दीजिये। आजीवन मैं इनकी सेवा में रहूँगा। आप इस प्रकार स्वर्णमुद्राओं के ऋण-भार से मुक्त हो जाइये।"

अंगारमुख ने अबकी बार बात सँभाली—"रे मूर्ख! तुझे लेकर हम क्या करेंगे? मुख देखा है तूने अपना शीशे में? बड़ा अपना मोल एक लाख स्वर्ण मुद्रा समझने वाला। फिर तू तो अब वैसे ही हमारा दास है—तेरे विक्रय का अधिकार अब इस हरिश्चन्द्र के पास नहीं रह गया। तू हमारी सम्पत्ति है।" कुछ क्षण मौन रहकर उसने नवीन उत्साह के साथ फिर कहा—"हाँ, हरिश्चन्द्र अब चाहे तो ऐसे किसी प्राणी का विक्रय कर सकता है जिस पर उसका अधिकार हो। उसकी पत्नी और पुत्र पर अब भी उसी का अधिकार है।"—कहते हुए उसके नेत्रों में एक अपूर्व दमक आ गयी।

कुन्तल यह सुनकर तिलमिला उठा। वह प्रतिकार करना ही चाहता था कि स्वयं महारानी सुतारा ने महाराज के समक्ष प्रस्ताव किया—"स्वामी, कुलपति आचार्य को स्वर्ण मुद्राएँ तो चुकानी ही होंगी। आपका मुझ पर तो अधिकार है, आप मेरा विक्रय तो कर ही सकते हैं। आप मुझे किसी के भी हाथ बेच दीजिये—कुलपति को धन देकर वचन पालन कर लीजिये स्वामी, ऐसा ही कीजिये।" महाराजा अपनी दुःखपूर्ण प्रतिक्रिया इस प्रस्ताव पर करने को ही थे कि बात पर शिकंजा कस लेने की मुद्रा में अंगारमुख ने बहुत ही त्वरा के साथ कहा—"वाह! ऐसा कैसे हो सकता है? सुतारा तुम पर हरिश्चन्द्र का तभी से अधिकार होगा, जब वह एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएँ दे चुकेगा। इसके पूर्व तो तुम बंधक रूप में हमारे पास रहोगी। तुम्हारे यहाँ होने से हरिश्चन्द्र को पकड़ने में भी हमें सुविधा होगी।" कथन के समाप्त होते-होते अंगारमुख के अधरों पर जो मंद हास उभर आया और नेत्रों में जो चंचलता आ गयी—वह कथन के कथ्य से भी अधिक चुभने वाली थी। इस कथन की वाणी कुन्तल के हृदय में गड़ गयी थी। तभी कुलपति आचार्य की उक्ति की चोट ने उसे और गहरी धँसा दिया। वह तिलमिला उठा।

आचार्यश्री ने बड़ी निर्ममता के साथ सुतारा को सीधे ही सम्बोधित करते हुए कहा—"तुझ निर्लज्ज कुलटा का क्रय करना ही कौन चाहेगा। हरिश्चन्द्र को बेचना तो तुझे होगा ही—अन्यथा खायेगा क्या? किन्तु हमारा ऋण चुकता करने के पूर्व वह ऐसा भी तो नहीं कर सकेगा।"

कुन्तल अब तक निर्भीक हो उठा था। वह अपने महाराजा-महारानी का यह घोर अपमान सहन नहीं कर सका, बोला—"जोगी""तू स्वयं लम्पट है। हमारी सती साध्वी रानी को तूने कुलटा कहा। तेरी जीभ झड़ जाय, दुष्ट तू""।" आशुरोष कुलपति ने अभिशाप देते हुए ज्यों ही अंजलि भर कर जल उस पर फेंका, वह तुरन्त अदृश्य हो गया और ज्वाला-समूह उस स्थल पर भभक उठा। भयभीत दर्शकों ने देखा कि कुछ ही पलों में अग्नि कुछ धीमी हुई और एक शृगाल हूकी-हूकी करता हुआ उसमें से बाहर आया। उसने महाराजा व महारानी की प्रदक्षिणा की और सब के देखते-देखते सभा भवन से बाहर भाग गया।

फिर एक सन्नाटा छा गया। सभी मौन थे। कुलपति आचार्य अपनी ही अग्नि में भीतर ही भीतर जल रहे थे। वे अपने अभीप्सित के समीपतर होते जा रहे थे। यह उत्साह उन्हें प्रेरित करता था। अतः अतीत से शीघ्र मुक्त होकर वे भवितव्य की ओर उन्मुख हो जाते थे। तुरन्त उन्होंने महाराजा से प्रश्न किया—"अब क्या सोचा है तूने? बोल! चाहता है अपने वचन वापस लेना? अथवा अभी भी तेरा दम्भ शेष रह गया है? हमारे पास समय नहीं है। शीघ्र निर्णय कर। शीघ्रता कर।"

करबद्ध और नतशिर खड़े महाराज ने अत्यन्त दीनता और विनय के साथ अनुरोध किया—भगवन्! आप तो दया सागर हैं। आप मुझ पर कृपा कीजिये और एक माह की अनुग्रह अवधि मुझे प्रदान कीजिये। इस अवधि में मैं आपका धन आपको अर्पित कर दूंगा, अन्यथा आपका जो निर्णय होगा वह मुझे मान्य रहेगा।" अपना कथन समाप्त करते-करते महाराज के मुख पर असीम असहाय और अनुनय का भाव निखर आया। कुलपति आचार्य विचारलीन हो गये। इस अवसर का लाभ उठाते हुए अंगारमुख ने सहजता के साथ अनुशंसा कर दी—"पूज्यश्री, हरिश्चन्द्र का यह अनुरोध विचारणीय है प्रभो! एक अवसर इसे और प्रदान कर दीजिये। यह परीक्षा भी इसे दे लेने दीजिये, आचार्यश्री!"

कुलपति आचार्य ने दृष्टि उठाकर एक बार अंगारमुख की ओर

देखा, फिर उन्होंने महाराज को सिर से पाँव तक देखा। स्वीकृतिसूचक सिर हिलाते हुए उन्होंने कहा—"हरिश्चन्द्र ! तेरा व्यवहार तो इस योग्य नहीं कि तेरे साथ कोई अनुग्रह किया जा सके, किन्तु हमारे प्रिय शिष्य ने तेरी प्रार्थना का अनुमोदन कर दिया है, अतः हम बाध्य हो गये हैं। आज से ठीक तीसवें दिन हम तेरे पास अपना धन लेने आएँगे। तू अपनी पत्नी और पुत्र सहित हमारी राज्य-सीमा से बाहर रहेगा। इस सीमा के भीतर तू कोई भी उपार्जन या धन प्राप्ति का कार्य नहीं करेगा।"

महाराज ने कृतज्ञता सूचक शीष झुकाकर प्रणाम किया। आतंकित सभा में अब भी सन्नाटा छाया रहा।

६

नन्हा कुमार रोहिताश्व चाँद के टुकड़े सा सुकुमार, सौम्य अपने छोटे-छोटे चरणों से चल रहा था। पीछे-पीछे उसके माता-पिता महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी सुतारा—बालक रोहित कभी पिता के पैरों के आगे-आगे चलता। पिता उसके कंधों को थपका देते। कभी वह माता के आगे हो जाता और माता उसका शीष सहला देती। कभो वह दोनों के मध्य चलता रहता। तीनों प्राणी अपना चिर सुखदायी राजभवन त्याग कर बाहर निकल आये। नरेश और रानी को अपना राजभवन छोड़ते कोई मोह नहीं व्यापा। पथिक ग्रीष्म की प्रचण्ड दोपहरी सघन वृक्ष की छाँव में सुखपूर्वक व्यतीत कर जब पुनः यात्रारम्भ करता है, सुखद वृक्ष को त्यागने में उसे कोई पीड़ा नहीं होती, कोई मोह नहीं जागता उसके प्रति—वह सहज भाव से आगे बढ़ जाता है। वैसे ही राजा-रानी की मनोदशा थी। पथिक का गंतव्य कुछ और होता है, यह वृक्ष नहीं। वह अपने लक्ष्य की ललक में लगा रहता है, बीच के पड़ाव वह निरीह भावना से निष्काम रूप में पार करता चला जाता है। महाराजा सत्यवादी हरिश्चन्द्र के लिए भी तो अयोध्या का राज्यत्व, वह राजसी सुख-वैभव साध्य नहीं था। वह तो सत्य और धर्म का साधक था, वही उसका चरम और परम लक्ष्य था, तो यह राज्य और वैभव का पड़ाव छोड़ने में इन्हें वेदना होती ही क्यों! सहज भाव से सर्वस्व त्याग दिया और वे बटोही बन गये, यात्रा ही उनकी नियति बन गयी। साधारण से साधारण नागरिक की वेश-भूषा भी कदाचित् इनकी अपेक्षा अधिक सुखद, उत्तम होती है। ये तीनों प्राणी नग्नपाद थे। कोई अलंकरण-आभूषण नहीं। भाल की अरुण बिन्दिया—सुहाग चिह्न भी रानी सुतारा के पास यह था, या मूल्यहीन चूड़ियाँ व मंगल सूत्र था।

अयोध्या के प्रजाजन ने इतने साधारण वेश में अपने राजपरिवार को प्रथम बार ही देखा। अपने स्वाभाविक रूप में वे और अधिक सुन्दर लग रहे थे।

मुख्य ड्योढ़ी से बाहर निकले कि प्रांगण में ही गोशाला, अश्वशाला, गजशाला दिखाई पड़ी। राजदम्पत्ति बारी-बारी से अपने प्रिय पालित पशुओं के पास गये। उनसे विदा ली। मूक पशुओं ने गर्दन नीची कर विदा दी। उनके मन भर आये, नेत्र आर्द्र हो उठे। करुण स्वर में गायें रंभाने लगीं। अश्वों ने महाराज के कंधे पर गर्दन डाल दी। हाथियों ने सूँड उठा-कर नमस्कार किया। सभी मन्द क्रंदन करते रहे। राज-भवन के दास-दासियों, परिचारिकाओं का समूह बिलख पड़ा। राजदम्पत्ति ने उन्हें सान्त्वना दी। दुःख न मनाओ। अपना कर्तव्य पूरा करते रहने में ही आनन्द है, इसी में सारे अभाव डूबकर स्वयं आनन्द हो जाते हैं। अब तुम्हारा कर्तव्य नये शासकवर्ग की सेवा करना है। महाराजा और महारानी साश्रु मुखड़ों को अधिक समय देख नहीं पाये। वे पलट कर आगे बढ़ गये। अज्ञान ही दुःख अथवा सुख का मूल है। सच्चा ज्ञान व विवेक सुख-दुःख के भ्रमजाल से मुक्त कर व्यक्ति को सच्चे आनन्द की ओर अग्रसर करता है। राजदम्पति इसी श्रेणी के जन थे। वे आगे बढ़ आये—निर्मोह भावना के साथ, समभाव स्थिति में। नगर के राजमार्ग पर यह त्रयी आगे बढ़ती गयी। मार्ग के दोनों ओर आबाल वृद्ध नर-नारी—अयोध्यावासी—वेदनाग्रस्त, त्रस्त और अस्त-व्यस्त स्थिति में महाराज-महारानी के दर्शनार्थ खड़े, बार-बार हाथ जोड़कर झुककर प्रणाम करते थकते न थे। उनके नेत्रों से अश्रु उमड़ रहे थे। झरोखों से पुष्प वर्षा हो रही थी। राजदम्पति का अनुसरण करते अनेक प्रजाजन साथ होते गये। चरण बढ़ते गये, काफिला जुड़ता गया। रोते-बिलखते, क्रन्दन-रुदन करते इस जन समूह ने अयोध्या में एक नवीन दृश्य उपस्थित कर दिया। राजा-प्रजा का यह पारस्परिक स्नेह एक आदर्श स्थापित कर रहा था।

चलते-चलते यह विशाल शोभायात्रा नगर के मुख्य द्वार पर पहुँच गयी। द्वार के बाहर एक खुला, विस्तृत चौगान था। यह जन समुदाय महाराज का अनुसरण करते अब इस चौगान में पहुँचा। महाराज ने सब को स्नेह के साथ, मुस्कुराते हुए सम्बोधित किया—"प्यारे भाइयो और बहनो! आज आप लोगों से बात करने में हमें बड़ा आनन्द अनुभव हो रहा है। आज हमारे बीच में राजापन की अकड़ नहीं है न! आज तो आप में

से ही एक हो गये हैं हम। साधारण नागरिक होकर हमें वास्तव में आज जो सुख मिल रहा है, वैसा कभी नहीं मिला। सत्य के पुजारी हैं हम, सत्यवादी—यह तो आप सभी जानते ही हैं। आज इसी सत्यशीलता की रक्षा के लिए हमें राज-पाट छोड़कर जाना है। आप से हमें विदा होना है। आप लोगों का—जनता जनार्दन का अपार प्यार मिला, असीम आदर मिला। उसके लिए हम आप सभी के आभारी हैं, उपकार मानते हैं आपका" —कहते हुए महाराज ने हाथ ऊपर उठाकर जोड़ लिये और पंजों पर उचक कर दूर-दूर तक पीछे के सभी लोगों की सूरत देख लेने का प्रयत्न करने लगे। रानी सुतारा के मुख पर भी आनन्दसूचक मुस्कान थी। सामान्य होते हुए महाराज ने आगे कहा—"भाइयो, बहनो! राज-काज के क्रम में जाने-अनजाने हमारे किसी कहने-सुनने से, हमारे किसी काम से, किसी को कोई कष्ट हुआ हो, किसी के जी को ठेस पहुँची हो, किसी को हमारे कड़वे बोल अखर गये हों—तो हम आप सभी से, खुले मन से क्षमा चाहते हैं। क्षमा कर दें आप सभी हमें, तो हम निश्चिन्त मन से प्रवास पर जा सकेंगे।" महाराज का इतना कहना था कि जन-जन बिलख पड़ा। राजा-रानी के नेत्र भी भर आये। सभी मिलकर खूब रो लिये—चित्त हलका होने लगा। पारस्परिक स्नेह धुलकर निष्कलुष हो गया। अब महाराज विदा होने लगे। मध्याह्न का समय समीप आने लगा। महाराज ने सभी प्रजाजन को शुभकामआएँ दीं और लौट जाने को कहा। अब भी कुछ रो रहे थे, कुछ आँखें पोंछ रहे थे, कुछ के नेत्र अभी भी लाल थे—कोई लौट जाना नहीं चाहते थे। सभी महाराज के संग-सग अयोध्या त्याग देना चाहते थे।

महाराज के समक्ष यह एक नवीन समस्या उठ खड़ी हुई। उन्होंने लोगों से बार-बार लौट जाने को कहा, किन्तु उनके कथन का कोई प्रभाव नहीं हुआ। गिरते-पड़ते, उठते-दौड़ते सभी हाल-बेहाल महाराज के पीछे चले आ रहे। कोई-कोई तो अति उत्साह में महाराज से भी आगे बढ़ जाते और तब बड़ी कठिनाई से अपने पर नियन्त्रण कर सीमा के भीतर आते। एक अद्‌भुत दृश्य हो गया था। यह उन्हें उपयुक्त नहीं लगा कि प्रजा उनके स्नेह के कारण, उनकी संगति के लोभ में अयोध्या का त्याग कर दे। यह उनके वचन का भंग था। उन्होंने अपनी बात का प्रभाव होते न देखकर अपनी गति रोक दी। एक वट वृक्ष की छाया में वे बैठ गये। रानी सुतारा

ने तब प्रजाजन से स्नेहपूर्वक अनुरोध किया कि "वे अब नगर को लौट जायें। सभी को अपने-अपने दायित्वों को पूर्ण करना चाहिये। गृहस्थ धर्म की अपनी मर्यादाएँ होती हैं। यों पलायन की प्रवृत्ति आप लोगों के धर्म पालन में बाधक होगी। भावुकता की अपेक्षा धर्म की महत्ता सदा ही अधिक रही है। आप कृपापूर्वक अपने घरों को लौट जायँ।"—रानी के कथन से कितना प्रभाव निर्मित हुआ—इसे आँकते हुए महाराज ने फिर से जन-जन को प्रबोधन दिया—"बन्धुओ ! सुनिये, ध्यान से सुनिये। यह आपका स्नेह है, प्यार है कि आप हमारे साथ रहना चाहते हैं। इस स्नेह को पाकर हम कृतार्थ हो गये हैं। हम भी चाहते हैं कि हमारा यह संग बना रहे, किन्तु इस समय परिस्थितियों का आग्रह कुछ अन्य प्रकार का है। हमें भावुकता त्यागकर समय की माँग के अनुरूप आचरण करना ही पड़ता है। तभी हमें सफलता भी मिलती है और युग का साधुवाद भी मिलता है। आप जानते हैं कि हमने सर्वस्व दान किया है। कुलपति आचार्य को हमने राज्य, सत्ता, कोष, प्रासाद, सेना, प्रजादि का सर्वस्व दान कर दिया है। अब प्रजाजन पर आचार्य का आधिपत्य है। आपको अयोध्यानगर में रहकर कुलपति का आधिपत्य स्वीकार करना है। आप हमारे संग रहें—इससे बड़ी प्रसन्नता भला हमारे लिए और आपके लिए भी और किस बात में होगी। पर तनिक विचार कर देखिये, क्या इस से हमारा वचन-भंग नहीं होगा ? क्या कुलपति आचार्य यह न कहेंगे कि हरिश्चन्द्र ने प्रजा के दान का वचन तो दिया और हमें प्रजा दी नहीं, अपने साथ लेकर गया। हम तो सत्यवादी हैं। आप भी चाहेंगे कि इस प्रकार हमारी सत्यवादिता पर कोई आघात न पहुँचे। हमारे यश को कोई कलंक न लगे—यही आप भी चाहते हैं। अतः यह दुःख भी है तो इसे सह लीजिये। लौट जाइये····अयोध्या लौट जाइये···· यही आपके और हमारे लिए शुभ है, कल्याणकारी है। पारस्परिक स्नेह के निर्वाह के लिए सामीप्य अनिवार्य नहीं होता। पारस्परिक हित कामना, त्याग और उत्सर्ग का भाव, पुनर्मिलन की उत्कंठा—यही सब कुछ आनन्द-प्रद हो जाता है, स्नेह को दृढ़तर करता जाता है। यदि वियोग में भी कोई रस है तो वह यही है। वियोग प्रेम का अन्त नहीं है यह तो दृढ़तर प्रेम का प्रवेश द्वार है। भाइयो और बहनो ! धीरज धरो, और अपने-अपने घरों को लौट जाओ। आपके सामने न होने पर भी आपको, आपके निर्मल प्रेम को क्या हम कभी विस्मृत कर पाएँगे ! कभी नहीं····किसी भी स्थिति में नहीं। बन्धुओ ! तो अब हमें अनुमति दीजिये। आपकी शुभकामनाएँ हमारा मार्ग

सुगम बनाती जायेंगी। धन्यवाद!—" कहते हुए महाराज बरगद की एक उभरी जड़ पर खड़े हो गये। स्नेहपूर्वक हाथ हिला-हिलाकर सभी को विदा किया। इस विशाल जन-समूह का अन्तिम छोर अभी वे देख पा रहे थे और इससे एक अद्भुत संतोष का अनुभव भी उनको होने लगा था। महिलाएँ रानी सुतारा के समीप आयीं—गले मिलीं, रोयीं-सुबकीं, रुलाइयीं और विदा हो गयीं। रोहित को सभी का स्नेह स्पर्श मिला, चुमकार मिली, आशीष मिली। महाराज को सबका स्नेह सम्मान मिला। एक-एक कर प्रजाजन भेंटते गये और अयोध्यार्थ प्रस्थान कर गये। बड़ी देर में महाराज यात्रारम्भ की स्थिति में आये। अयोध्यावासियों का यह निर्मल, निःस्वार्थ प्रेम उनके मन को अद्भुत उत्फुल्लता दे गया। तीनों प्राणी अब वन मार्ग में आगे बढ़े। सरयू तट पर पहुँचकर उनका मन पुनः भावुक हो उठा। महाराज और महारानी दोनों मौन····अपने-अपने विचारों में खो गये। इस प्यारी सरिता से विदा होना उन्हें तनिक कष्टकर लग रहा था। रोहित बालू का घर बनाने लगा। सीप-शंख एकत्रित करने लगा। सहसा महाराज बोल उठे—"क्या सोचने लगीं। इतना मोह अच्छा नहीं।" "और आप क्या सोच रहे थे····हैं? मोह क्या मेरे मन को ही संतप्त कर रहा है?" महारानी ने जैसे दुखती रग पर हाथ रख दिया। महाराज ने बात बनाते हुए कह दिया—"प्रियतमे! मैं तो कुछ और ही सोच रहा था। सोच रहा था कि दुर्दिन के ये कष्ट तुम और रोहित कैसे भोग पाओगे? परीक्षा तो मेरी है न! तुम क्यों कष्ट में पड़ो? सोचता हूँ तुम्हें और रोहित को तुम्हारे पितृ गृह छोड़ दूँ। कुछ ही समय की तो बात है····" महाराज अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाये थे कि तमककर महारानी ने कहा—"हमारा कष्ट भी तो आपकी परीक्षा का एक अंग है। कहीं हमारे संकटों से विचलित होकर आप सत्याचरण से डिग तो नहीं जाते! हमारी अनुपस्थिति में आपकी परीक्षा क्या अपूर्ण नहीं रह जायगी। फिर परीक्षा हमें भी तो इसी प्रकार देनी है। पातिव्रत्य की, सतीत्व की परीक्षा है हमारी। हमें इससे क्यों वंचित रखना चाहते हैं आप?"

"महारानी! यह परीक्षा तो कभी की उत्तीर्ण कर चुकी हैं आप। अब हठ न करो और····।" महाराज की बात को काटते हुए रानी ने कहा—"हठ का प्रश्न नहीं है। विपत्ति के समय में स्नेहियों के आश्रय में जाने में भी महिमा घटती है। अपने संकट का सामना स्वयं करने में ही मनुष्य की गरिमा है।" महारानी कहते-कहते आत्मगौरव से कुछ दीप्त हो उठीं।

उन्होंने आगे कुछ कहना चाहा ही था कि महाराज ने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—"तुम ठीक ही कहती हो, उचित है तुम्हारा कथन। किन्तु यह संकट मेरा है, अपना मेरा संकट है यह—यह तुम्हें क्यों कष्टित करे ?"

"संकट आपका अपना, अकेले अपना नहीं है महाराज"—महारानी ने कहा—"तनिक सोच कर देखिये लू का कोई झोंका आकर क्या आपकी एक भुजा को ही झुलसा जायगा—क्या दूसरी भुजा उसके प्रभाव से सुरक्षित रह जायगी ? सारे शरीर के लिए परिस्थितियाँ समान प्रभावकारी होती हैं, महाराज ! मैं क्या आपकी अर्धांगिनी नहीं हूँ। हम एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का योग ही सम्पूर्ण है। ऐसी स्थिति में कोई संकट अकेले आपका ही नहीं हो सकता है। हम दोनों समान रूप से दुःख-सुख के भागी हैं और रहेंगे। व्यक्ति और उसकी परछाईं क्या पृथक पृथक स्थानों पर रह सकती हैं ? मैं आपके साथ""हम साथ ही साथ रहेंगे स्वामी !" महारानी ने कहा और थकित-श्रमित होते हुए भी क्षणेक मौन के पश्चात् पुनः महाराज को सम्बोधित किया—"स्वामी ! मुझे अब ही तो पति-सेवा का अवसर पूरी तरह मिला है। राजप्रासाद में तो मेरे इस अधिकार का अधिकतर भाग मुझसे छिनता रहा है। कितनी तो दासियाँ आपकी सेवा में जुटी रहा करती थीं। यह सुख मैं अब अपने पास सुरक्षित रखूँगी किसी को इस पर आघात नहीं करने दूँगी, आपको भी नहीं।"—महारानी इतना कह एक गर्वानुभूति के साथ मौन हो गयीं। महाराज हरिश्चन्द्र भी इस सम्बन्ध में आगे कुछ न बोले। रोहित ने अब तक अपना रेत का घरौंदा बना लिया था। खड़े होते हुए बालक रोहित ने अपने हाथों से बालू झटकारते हुए कहा—"माँ, हमने अपना दुर्ग निर्मित कर लिया है। देखो कितना सुन्दर है। कितना तो बड़ा है इसका परकोटा।" बालक प्रसन्न होते हुए अपने दुर्ग को भिन्न-भिन्न कोणों से देखने लगा। महाराज ने कहा, "वत्स, तुम तो कुशल कारीगर हो, क्या सुन्दर दुर्ग बनाया है, वाह !" माँ ने भी अपने पुत्र की प्रशंसा की। वह राजकुमार की कल्पनाशीलता से बड़ी प्रसन्न हुई। परकोटे पर सीपियाँ खोंसकर रोहित ने कंगूरे बनाये थे। नीम की सींक पर केवल एक पत्ती रखकर उसने दुर्ग का ध्वज बना लिया था। एक-एक कारीगरी की महारानी ने जब प्रशंसा की तो कुमार रोहित का मन खिल उठा। उसके मुख पर हास फैल गया। माता-पिता अपने पुत्र को प्रसन्न देखकर आनन्दित हो गये। सारा का सारा मानसिक परिवेश एक बार को

सर्वथा परिवर्तित हो गया। उल्लास और उत्साह के साथ राजा-रानी उठे और अयोध्या से विदा होकर अब इस यात्रा का प्रथम चरण उन्होंने उठाया। अपने दुर्ग का एक स्तम्भ ठीक करने में लगा था रोहित। माता-पिता के प्रस्थान पर वह भी अपना काम शीघ्र सम्पन्न कर हाथ झाड़ते हुए दौड़कर माँ के पास पहुँच गया। महाराजा ने निर्विकार भाव से अयोध्या को त्यागा था, रोहित भी अपना दुर्ग उसी प्रकार छोड़ गया। सारा स्थल सूना हो गया।

७

सरयू पार घने वनों को पार पर महाराजा हरिश्चन्द्र, महारानी सुतारा और कुमार रोहिताश्व आगे से आगे बढ़ते चले गये। संध्या समय होने के पूर्व वे एक चरागाह के समीप पहुँच गये। ग्वाला गायें चरा रहा था। महाराज को अनुमान हो गया कि समीप ही कोई ग्राम होना चाहिए। रोहित को भूख लग आयी थी। महारानी भी शिथिल हो रही थीं। एक स्वच्छ चट्टान पर माता-पुत्र को बिठाकर महाराज वन्य फल-फूल चुनने को चले गये। माता-पुत्र एक दूसरे के साथ खेलते रहे। तभी कुछ समय में महाराज चादर को झोली में फल-फूल ले आये। तीनों ने आहार किया। रोहित को बड़ा असाधारण लगा। उसके मुख पर अप्रियता के संकेत उभरने लगे। पिता को यह देखकर बड़ी खिन्नता हुई। क्या ही विडम्बना है। षट्-रस व्यंजन का भोगी आज""। महाराज उठ खड़े हुए। अपने भाव रानी सुतारा से गुप्त रखने के उद्देश्य से इधर-उधर निरुद्देश्य झाँकने लगे। अँधेरा होने से पूर्व ये ग्राम में पहुँच गये। इस छोर पर ही एक पांथागार मिल गया। अनुमति लेकर वे वहीं रुक गये। उन्हें रैन बसेरा ही तो चाहिए था। महाराज ने अपना पीला वस्त्र बिछा दिया। माता-पुत्र लेट गये। थकान के मारे उन्हें शीघ्र ही नींद भी आ गयी। महाराजा द्वार उढ़काकर बाहर निकल आये। पंथागार के खुले चौक में खड़े-खड़े वे सोचते रहे - सर्वथा साधनहीन हूँ। आजीविका का कुछ स्रोत तो खोजना होगा। वे सोचते-सोचते बाहर मार्ग पर निकल आये। ग्रामवासी नवांगतुक को देखकर बतियाने लगे। एक सज्जन ने साधनहीन समझ अपनी दुकान से खाद्य पदार्थ देना चाहा। महाराज संकोच करने लगे। व्यापारी ने बार-बार आग्रह किया तो महाराज बोले—महोदय, मैं क्षत्रिय हूँ। दान या भेंट यों ग्रहण नहीं कर सकता। क्षमा चाहता हूँ।"

व्यापारी इनके विनय से बड़ा प्रभावित हुआ। उस पर इनके आदर्श

और संभ्रान्तता का भी प्रभाव हुआ। बोला--"कोई बात नहीं, परिश्रम करने को तैयार हो ? मेरे पास तुम्हारे लिए काम भी है। लो यह कलश लो और सामने बाड़े में मेरी तीन गायें बँधी हैं। जाओ, उनका दूध ले आओ और फिर पीछे वाले कुए से चार मटके पानी भर लाना। महाराज को कुछ समय लगा, पर उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। काम से निवृत्त होकर जब वे दुकान पर पहुँचे, व्यापारी ने उन्हें आटा-दाल आदि खाद्य-पदार्थ दे दिये। सबेरे उठकर रानी सुतारा ने भोजन तैयार कर लिया। आहार के उपरान्त ये लोग पांथागार छोड़कर यात्रा पर निकल गये।

यों यात्रा-प्रवास व्यतीत होता रहा। कभी वन में, कभी किसी बस्ती में रैन बीतती। गतिशीलता ही इनकी नियति बन गयी थी। भोजन कभी मिलता, कभी यों ही समय निकाल देना पड़ता। कठिनाई रोहित की थी। माँ उसके कष्ट देख नहीं पाती। द्रवित हो उठती थी—उस अबोध बालक की कष्टपूर्ण स्थितियों को देखकर। वनमार्ग में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ थीं। कोमल पैरों में पैने कंकर, काँटे चुभते। बालक रो पड़ता। उसके आँसू देखकर सुतारा अन्य ओर को मुख कर लेती। उसके नेत्र आर्द्र हो उठते। पिता के हृदय में भी कसक उठती पर वे आभास नहीं होने देते। दोपहरी की धूप पसीना-पसीना कर देती, पैर जलने लगते। बच्चा पगडंडियों पर उछलने लगता, माता गोद में उठा लेती। कुछ ही दूर चलकर माता उसे फिर उतार देती। कभी पिता पैरों में बड़े-बड़े पत्ते लपेट देते। वे भी फट-बिखर जाते। धूप से बचने को बड़े-बड़े पत्तों की टहनियाँ छाते के रूप में सिर पर रखकर चलते। कोमलांगिनी सुतारा के लिए भी ऐसी यात्रा पीड़ा-जनक थी। स्वयं महाराजा को भी अभ्यासहीनता के कारण कष्ट होता ही था। इनका लक्ष्य इस समय काशी पहुँचने का था। लगातार चलते-चलते कई दिन बीत गये।

× × × ×

धर्म और संस्कृति की नगरी—काशी, कलाकारों और पंडितों की नगरी—काशी, मल्लविद्या और योगियों-संन्यासियों की नगरी—काशी, व्यापारियों और व्यवसाइयों की नगरी काशी। काशी प्रसिद्ध थी सम्पन्नों और रईसों की नगरी के रूप में भी। महाराज आज प्रातः इसी काशी के बाजारों में भ्रमण कर रहे थे। सुतारा रानी और कुमार रोहित उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। आज ही पिछली रात में ये लोग यहाँ पहुँचे थे। रानी सुतारा ने तड़के से ही अनुभव कर लिया था कि आज महाराज विशेष रूप

से गम्भीर और विचारमग्न थे। रानी का साहस भी नहीं हो पा रहा था कि इसका कारण पूछतीं। सहसा उनका ध्यान तिथि की ओर गया। तिथि को जान लेने के लिए ज्योंही महारानी अपने मस्तिष्क पर जोर लगाने लगीं, उन्हें सहसा स्मरण हो आया कि आचार्य कुलपति को दी हुई एक माह की अवधि आज समाप्त होने वाली है। इस स्मृति से महारानी का रोम-रोम काँप उठा। आशुरोष कुलपति की छवि उनके मनःपटल पर गतिशील हो गयी। त्रस्त महारानो ने महाराज को टोकते हुए कहा—"स्वामी, आज एक माह पूर्ण हो रहा है। आचार्य अपनी राशि ग्रहण करने को आज आएँगे।" —महाराज हरिश्चन्द्र की आँखें सहसा मुँद गयीं। कुछ पलों के पश्चात् मानो बलपूर्वक नेत्र खोलते हुए महाराज ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा और थकित स्वर में बोले—प्रियतमे! यही तो समस्या है। आज ही कुलपति यम-राज की भाँति यहाँ आ पहुँचेंगे। उनका ऋण चुकाना ही होगा। तभी धर्म की, वचन की, सत्य की रक्षा होगी। ऐसा न होने की स्थिति में—"प्राण जाहि पर वचन न जाहि—मुझे प्राण त्याग.....।" "नहीं.....स्वामी ऐसे अशुभ बोल मुख से न निकालिये। आइये इधर एक तरफ इस वृक्ष के नीचे बैठिये। कुछ विश्राम भी होगा, विचार-विमर्श भी हो जायगा।" इसी समय माँ का आँचल खींचते हुए कुमार ठुनुकने लगा—माँ भूख लगी है, मैं क्या खाऊँ? माँ निरुत्तर थीं। उनके पास न कोई खाद्य पदार्थ था और न ही कोई उत्तर। समीप के जलगृह से पत्तों के एक दोने में वे जल ले आयीं और बालक को पिलाया। बालक की आँखों में कुछ ज्योति तैर आयी। वह पत्थरों को टकराकर खेलने लगा।

"मेरे मन में एक विचार आ रहा है स्वामी, पर कैसे कहूँ। भय है कहीं आप कुपित न हो जायें।" महारानी ने कहा और पतिदेव का मुख निहारने लगीं। क्षणिक मुस्कान के साथ महाराज हरिश्चन्द्र ने कहा—प्रिय-तमे, तुम और मैं, मैं और तुम—हम दोनों ही तो यहाँ अपना संसार बनाते हैं। और कोई भी तो हमारा सहायक नहीं। कहो—निर्भीक होकर अपनी बात कहो, महारानी!"

रानी सुतारा की दृष्टि अपने आस-पास सब ओर घूम गयी, कोई इस ओर ध्यान न दे रहा हो। यह जन संकुल स्थान था। अनेक जन आस-पास आ-जा रहे थे। सभी अपने-अपने कामों में लगे हुए थे। किसी को इस दिशा में ध्यान देने का जैसे अवकाश ही नहीं था। तभी महाराज ने पुनः उत्सा-हित किया—"कहो""कहो""तुम क्या कहना चाहती हो?"

"स्वामी आप तो ज्ञानी हैं, धर्मज्ञ हैं, नीति-अनीति की शिक्षा यह जगत आपके कार्यकलापों से ग्रहण करता है। मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ। पत्नी पर स्वामित्व पति का होता है। पत्नी को शास्त्रों में पुत्र-प्राप्ति का स्रोत मानते हुए कहा गया है कि यही सत्पुरुषों के लिए पत्नी का फल या प्रयोजन है। मुझसे यह फल आपको प्राप्त हो ही गया। पुत्र उत्पन्न कर मैंने अपनी सार्थकता पूरी कर ली। अब मेरा कोई प्रयोजन आपके जीवन में शेष नहीं रह गया है।" इस विचार जाल में ग्रस्त महाराज समझ नहीं पा रहे थे कि रानी का क्या मन्तव्य है ? व्यग्रता के साथ वे पूछ बैठे—सो तो ठीक है, पर इस सबकी प्रासंगकिता क्या है ? कहीं तुम बहक तो नहीं गयीं। कहना क्या चाहती हो तुम ?" "अयोध्या नरेश सत्यवादी हरिश्चन्द्र महाराज से मैं एक ही विनती करना चाहती हूँ कि मैं उनके सत्यपालन के मार्ग में आये संकट को समाप्त कर देना चाहती हूँ।" रानी ने इतना कहा और महाराज कुछ उत्साहित हुए बोले—"वो कैसे ?"

"वो ऐसे कि अब शास्त्रानुसार मेरी भूमिका आपके जीवन में समाप्त हो गयी है। अतः आप काशी के बाजार में मेरा विक्रय कर कुलपति के ऋण से मुक्त हो सकते हैं।" महारानी ने सतर्क, सटीक कथन किया।

महाराजा अपनी प्रेयसी के इस उत्सर्ग भाव से द्रवित हो उठे। उनके प्रति अपने मन का समस्त स्नेह उमड़ आया। परिस्थितियों की विवशताओं से जकड़े हुए महाराज के मन में आत्मग्लानि उत्पन्न हुई कि आज उनकी धर्मपत्नी का यह प्रस्ताव सहन करना पड़ा। वे अपनी दशा पर मन-ही-मन तिलमिला उठे और बोले—"प्रियतमे····! प्रियतमे !! विधाता ने आज यह दिन भी दिखा दिया कि तुमसे ये शब्द सुनने पड़े। इसके पूर्व ही मेरे प्राण-पखेरू क्यों न उड़ गये—अब और क्या देखने को ये निर्लज्ज प्राण बने हुए हैं। मैं····मैं····प्राणान्त हो जाय तो वचन-भंग का अपयश तो मेरे जीवन में नहीं आयेगा····मैं····।" महाराज विचलित और अधीर हो उठे।

रानी सुतारा ने महाराज को सधीर करते हुए कहा—"स्वामी ! आपको इतना विचलित तो कभी नहीं पाया। धर्माचरण में अग्रणी होकर भी आप इस प्रकार आत्म प्राणापहरण की बात भी सोचें—यह बड़ा अस्वाभाविक प्रतीत होता है। विधि को जो स्वीकार होगा वह होगा किन्तु आपके वचन पालन के व्रत की रक्षा होगी····अवश्य होगी। मेरा अन्तःकरण यही कहता है स्वामी·····विचलित न होइये कोई युक्ति सोचिये। कोई न कोई·····" महाराज ने अपनी जीवनसंगिनी के कथन से एक नई स्फूर्ति अनुभव की।

उन्हें अपनी दुर्बलता की अभिव्यक्ति पर संकोच भी अनुभव होने लगा। उन्होंने कहा—"प्रिये ! मेरे समक्ष प्रश्न ही इतना विषम है कि कोई रास्ता नहीं सूझता। मेरा प्राणों से भी अधिक महंगा वचन-पालन का व्रत मेरी सत्यवादिता का परीक्षक बन बैठा है महारानी, मैं क्या करूँ.....मैं क्या करूँ।" यह कहते हुए महाराज हरिश्चन्द्र गहरे सोच में डूब गये। रोहित बार-बार खाने के लिए हठ कर रहा है उसकी ओर अब महारानी का ध्यान गया। प्रारब्ध की निष्ठुरता ने रानी को भी विचलित कर दिया। राजा-रानी दोनों अपने-अपने विचारों में खोये हुए थे कि सहसा समीप के किसी शोर से दोनों ही चौंक पड़े। देखा, तो सामने अंगारमुख अपने गुरुदेव कुलपति आचार्य के साथ खड़े थे।

अंगारमुख ने डपटते हुए महाराज से कहा—"अरे निर्लज्ज ! तुझे यह भी बताना होगा कि गुरुजनों का सम्मान कैसे किया जाता है ? न प्रणाम न वन्दना !! हैं....?"

अब तक राजा-रानी दोनों उठ खड़े हुए थे। दीन स्वर में महाराज बोले—"पूज्य आचार्यश्री, क्षमाप्रार्थी हूँ मैं, विचार-मग्न होने के कारण आपका आगमन नहीं जान सका। प्रणाम करता हूँ आचार्यश्री, प्रणाम करता हूँ तपस्वी महाराज !" महारानी ने भी महाराज के साथ हाथ जोड़कर नमन किया। रोहित माँ के आँचल में लिपटता जा रहा था।

अगारनयन कुलपति आचार्य ने कहा—रे हरिश्चन्द्र, अपनी सभ्यता, अपना शिष्टाचार तू ही जाने, हमें तो हमारी राशि से प्रयोजन है। ला, ऋण चुकता कर, सौंप दे एक लक्ष स्वर्णखण्ड अंगारमुख को। शीघ्रता कर, हमारे पास अधिक समय नहीं है।"

महाराज हरिश्चन्द्र तो पहले से ही आतंकित थे। वे सहसा काँप उठे, किन्तु समस्त मानसिक दृढ़ता संकलित करते हुए उन्होंने कुलपति आचार्य से निवेदन किया, "आज मेरे वचन पालन का अन्तिम दिवस है पूज्यवर ! मैं भलीभाँति जानता हूँ। आज मैं आपका ऋण चुकता कर भी दूँगा।"

बीच में ही अंगारमुख ने अंगारे उगलना आरम्भ कर दिया—"तो चुकता कर क्यों नहीं देता ? क्या इसके लिए भी किसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहा है ? ला, दे हमारा धन, हमें जाना है।"

महाराज ने अनुनय-विनय करते हुए कहा—"करूँगा प्रभो, आज ही चुकता करूँगा। आज का समय तो अभी काफी सारा शेष है। मुझे प्रयत्न करने दीजिये।"

"आप श्रीमान जी अब क्या प्रयत्न कर लेंगे। तीस दिन में तो कछ कर न सके—अब तीन प्रहर में क्या कर लेंगे महाराज" सव्यंग कुलपति आचार्य ने उलाहाना दिया और बोले—"क्यों नहीं अपनी पराजय मान लेता। कह दे कि अपना वचन पूरा नहीं कर सकता, अपना वचन वापस लेता हूँ।" कुलपति आचार्य क्रुद्ध थे।

इसी समय अंगारमुख ने आचार्यश्री से अनुरोध किया और आचार्य श्री ने संध्या तक का समय स्वीकृत कर दिया, बोले—"सूर्यास्त तक का समय तेरा है और उसके पश्चात् हमारा। यदि तू ऋण की राशि दे नहीं पाया तो तू वचन भ्रष्ट तो हो ही जायगा, हमारे शाप की ज्वालाएँ तुझे भस्म भी कर देंगी। तेरी नियति अब स्वयं तेरे ही हाथ में है।"

तपस्वी अंगारमुख के आगे-आगे आचार्यश्री तो संध्या तक के लिए चले गये। वे महाराजा हरिश्चन्द्र के लिए एक चुनौती छोड़ गये। उनके लिए यह जीवन-मरण का, यशापयश का असाधारण प्रसंग था। कैसे इन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सत्य की रक्षा की जाय, बस यही एक बिन्दु उनकी सारी चेतना को केन्द्रित किये हुए था। भावावेश में वे काशी के अनेक बाजारों में विचरण करते रहे। एक बड़े चौराहे पर वे रुक गये, रानी को साथ लेकर वे चौराहे के मध्य पहुँच गये। रोहित उनके साथ था ही। सहसा ऊँची वाणी में महाराज बोल पड़े—

"सुनिये····सुनिये····सुनिये····काशी के पंडितो, श्रेष्ठियो, सभ्रान्त जनो····ध्यान से सुनिये। अपनी सेवा, अपने परिवार की सेवा के लिए दासी खरीदिये····कुशल दासी, अच्छी दासो। विक्रय के लिए खड़ी है—देखिये, और क्रय कर लीजिये। जो अधिकतम मोल लगाएगा वही पाएगा। सुनिये····सुनिये····सुनिये····" एक कुतूहल सा निर्मित हो गया था। उत्सुक जनों का समूह एकत्र हो गया था। चारों ओर से भाँति-भाँति के प्रासंगिक और अनर्गल प्रश्न आने लगे—नरेश उनका उत्तर देते, चुप रह जाते। समय इसी तरह बीतता रहा। एक विनोद ही रचा गया था। महाराज तनिक निराश होकर और भी तीव्रता के साथ पुकार उठे—"सुनिये···· सुनिये····सुनिये····" थोड़ा रुक कर वे पुनः बोल उठे—"सज्जनो, नहीं

मिलेगा काशी में ऐसी दासी जो बढ़ेगा, सो पाएगा महाराज, सोचते रहने वाला पछताएगा।' रानी सुतारा संकुचित सी सिर झुकाए खड़ी थीं। बालक रोहित अँगूठा चूसता, भीड़ को देखता रहा। भीड़ बढ़ती रही, महाराज गुहार करते रहे, बोली कोई नहीं लगी। किसी ने पूछा—तुम कौन लोग हो ?

महाराज बोले, श्रीमान जी ! हम राजा थे, ये बिकने वाली नारी रानी थी। हम सत्यवादी हैं, धर्मरक्षक हैं, वचन की रक्षा के लिए हमें पत्नी का विक्रय करना पड़ रहा है—यह सब कहें तो महाराज, आप विश्वास नहीं करेंगे न ? ठीक ही है, नहीं ही करेंगे। तो छोड़िये वो सब कि हम कौन हैं। पेड़ काहे गिनने को, आम ही खाने से काम है न। खरीदिये दासी..... और पाइये उत्तम से उत्तम सेवा। दाम लगाइये.....दाम।"

फिर बाजार मौन हो गया। काशी में आज अजब ही विस्मय था। क्रय-विक्रय का यह अनूठा ढग था। महाराज की दृष्टि सूर्य की ओर गयी जो पश्चिम दिशा में झुकने लगा था। डूबता व्यक्ति जैसे हाथ-पैर मारने लगता है—महाराज ने भी फिर से पुकार लगायी। एक वृद्ध पण्डित आगे बढ़ आये, बोले—"सुनो भाई इस स्त्री को हम मोल ले लेंगे। हमारी पंडिताइन दुर्बल और रुग्ण हैं। उनकी सेवा-टहल करने को एक दासी चाहिए। घर का काम-काज देखना होगा। स्वीकार है न !"

नरेश ने कहा—क्रीतदासी को चयन का अधिकार नहीं कि कौन सेवा वह करेगी और कौन सी नहीं। उसे तो आज्ञा का पालन करना है महाराज ! यह स्त्री ऐसा ही आचरण रखेगी। हमें प्रयोजन मूल्य से है एक लक्ष स्वर्ण मुद्रा दीजिए और दासी ले जाइये।" महाराज एकदम स्पष्टवक्ता हो गये थे। संकट की अतिशयता सारे संकोच का मोचन कर देती है। व्यक्ति को मात्र अपना प्रयोजन ही सुझाई देने लगता है।

पण्डित जी भी सही-सपाट बोलने वालों में से थे। बोले—एक लक्ष की बात खोटी है। इतना मोल इधर कोई भी तुम्हें देने को नहीं। "जो कुछ है एक लक्ष से थोड़ी कम स्वर्ण मुद्राएँ हैं इस थैली में। यदि तुमको सौदा करना हो तो सोच लो। नहीं तो हमारा धन हमारे पास, तुम्हारी स्त्री तुम्हारे पास।" महाराज को तो इस कथन के विपरीत अभीप्सित था। बोले—"महाशय, जो भी आपने निश्चय किया है, वह ठीक ही है। लाइये थैली लाइये।" महाराज ने हाथ फैलाया—जीवन में कदाचित् पहली बार।

पण्डित जी भी आगे बढ़ आये थैली राजा को सौंपी और रानी सुतारा का हाथ थाम कर ले जाने लगे। इस समय महाराज को काटो तो खून नहीं, पर वचन पालन के लिए वे सब कुछ सहन करते रहे। धर्मपत्नी को दासत्व की स्थिति में डालने से भी नहीं हिचके। धन्य है सत्यवादिता की लगन !!

बालक रोहित माता के साथ-साथ जाने लगा। पंडितजी ने देखा तो भुनभुनाने लगे—"अबे तू कहाँ चला"""जा अपने बाप के पास !! बड़ा चला है हमारे साथ। तुझे कौन खिलाएगा ?"

रोहित बेचारा परिस्थिति को न समझकर रोने लगा। भूख से वह पहले ही बेहाल था। माँ ने भी बच्चे को पिता के पास चले जाने को कहा। किन्तु पिता अपना कोई ठौर ठिकाना न पाकर बच्चे का हित इसी में मान रहे थे कि वह माता के साथ चला जाय। अभी धन भी तो और अपेक्षित था। त्वरा के साथ महाराज ने पंडितजी को पीछे से पुकारा—"महाशय, जरा सुनिये"""सुनिये। गौ के साथ ही वत्स भी रहता है श्रीमान् ! जननी के साथ ही तो शिशु भी रहेगा। अधिक नहीं जो उचित समझें दे दें और इसे भी ले जाइये। यह बालक संग न होगा तो इसकी चिन्ता में ही लगी रहेगी वह स्त्री। सेवा पूरी तरह कैसे कर पायेगी ? यह सौदा भी महँगा नहीं है महाशय ! दो ही बरस में यह लड़का भी काम करने लगेगा। ले जाइये"""इसे भी ले जाइये। जो ठीक समझें इसके भी दाम दे दीजिये।

पण्डित महाशय को बात जँच गयी। कटिबंध से एक थैली और निकालकर महाराज की ओर फेंकी—बोला दो हजार मुद्राएँ हैं इसमें। सौदा महँगा है पर तुम कहते हो तो"""" कहते हुए दूसरे हाथ से उन्होंने उस नन्हे बच्चे का हाथ थामा और चल दिये। दूसरे ओर से अंगारमुख अपने आचार्य के साथ आ पहुँचा। बोला—"हो गया सौदा अब तो। ला आचार्यश्री को उनकी राशि चुका दे।"

नरेश को स्वयं ज्ञात न था कि राशि कितनी है। उन्होंने दोनों थैलियाँ अंगारमुख के हाथ पर रख दीं। अभी भी राजा हरिश्चन्द्र के मन में यही खेद रहा कि अपनी सती साध्वी पत्नी को दासत्व के लिए विवश करना पड़ा। उसके कानों में अभी भी रानी सुतारा के शब्द क्षीण स्वर में गूँज रहे थे—"मैंने यदि पुण्य अर्जित किये हों, दान किया हो, तप किया हो, यदि मैंने मन-वचन-कर्म से अहिंसा की साधना की हो, मात्र पतिदेव को ही आराध्य माना हो तो इन पुण्यों के फलस्वरूप मुझे मेरे पति की पुनः प्राप्ति हो।"

[illegible] तू हमारी दासी है चरण छूना है तो हमारे छू अपनी स्वामिनी के छू। चल अब घर चल" और वे उसे बरबस खींचने लगे। चलते-चलते रानी सुतारा ने पीछे को गर्दन मोड़ कर देखा, मन ही मन एक क्षण को पतिदेव की चरण-वन्दना को और चल दी। महाराज हरिश्चन्द्र की आँखों के समक्ष यह सारा दृश्य पुनः उतर आया। उनका मन विह्वल हो उठा। वे अपनी पत्नी की भावुक मुद्रा देखने में खोये हुए थे कि कुलपति आचार्य की प्रताड़ना ने उन्हें सचेत कर दिया। अग्नि वचनों का उच्चारण करते हुए आचार्य कह रहे थे—"कहाँ है रे पूरी राशि! अब तो पूरी संध्या भी हो गयी। अभी तू एक लक्ष स्वर्णमुद्रा हमें दे नहीं पाया। हम घोषित करते हैं कि हरिश्चन्द्र का सत्यव्रती कहलाने का गौरव मिथ्या है। उसका व्रत………"—कुलपति आचार्य को टोकते हुए महाराज ने गिड़गिड़ाते स्वर में कहा, "पूज्यवर! अभी संध्या हुई है, सूर्यास्त तो नहीं हुआ न! अभी मेरे पास समय है….समय है—अपना वचन पूर्ण करने का। अभी मैंने पराजय स्वीकार नहीं की है। मैं सत्यवादी हूँ और सत्यवादी रहूँगा।"

"वाह रे तेरा अहं! पत्नी-पुत्र का विक्रय कर दिया। उन्हें दास-दासी बनाकर भी वचन निर्वाह नहीं कर पाया। अभी भी तेरा दंभ झुका नहीं निर्लज्ज!" अंगारमुख ने कहा—"ये दो प्राणी ही तो तेरे अधिकार में थे। इन्हें तो खो चुका, अब तेरे पास सूर्यास्त तक के कुछ पलों का समय ही तो बच रह गया है। अब क्या तू स्वयं को दाँव पर लगाएगा। अभी भी अठारह सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ तुझे जुटानी हैं और थोड़ा सा समय ही तेरे पास शेष है।"

अंगारमुख का अन्तिम वाक्य मशाल की भाँति उसके अँधियारे मन में कौंध गया। महाराज को एक मार्ग मिल गया। एक क्षण खोये बिना उन्होंने पूरी शक्ति लगाकर उच्चतम वाणी में पुकार लगायी—"सुनिये श्रीमानो, सुनिये—मैं विक्रय के लिए प्रस्तुत हूँ। खरीदिये….मुझे खरीदिये। लम्बा-चौड़ा बलिष्ठ देह, परिश्रमी मैं बिक रहा हूँ। कम दामों में दमदार दास पाइये। मात्र अठारह सहस्र। वो पण्डित महाशय स्त्री के अस्सी सहस्र दे गये—मेरा मोल तो मात्र इतना ही लगा है। दास खरीदिये, दास खरीदिये….शीघ्रता कीजिये।"

एकत्र जन परस्पर विचार-विमर्श करने लगे थे। इन दामों में यह सौदा

किसी को भी महँगा नहीं लग सकता था, पर कोई आगे बढ़ना भी ठीक नहीं समझ पा रहा था। आज का सूर्य महाराज हरिश्चन्द्र के यशापयश का निर्णय कर देने को था। समयावधि क्षीण से क्षीण होती जा रही थी। एक अद्‌भुत खलबली महाराज के मन में मच उठी थी। क्या स्वीकार है विधाता को""महाराज कभी यह सोचते, कभी सफलता के आत्मविश्वास से भर उठते। उनकी दृष्टि अस्ताचलगामी सूर्यदेव की ओर गयी। सूर्यदेव पर्वत-शिखर को स्पर्श करने को ही थे। महाराजा हरिश्चन्द्र का साहस बढ़ा—उन्होंने फिर प्रयत्न किया—"कोई भी क्रय करे, मुझे कोई भी खरीद सकता है—ब्राह्मण हो या चाण्डाल मुझे कोई आपत्ति नहीं। पनघट की नौकरी हो या मरघट की मुझे सब स्वीकार है। दाम मात्र इतना-सा और सेवाएँ ढेर सारी। सब कुछ करूँगा मैं, सब कुछ करूँगा""खरीदिये""। सब किसी के हाथों बिकने को तैयार हैं पर सूर्यास्त से पूर्व तक इसके पश्चात् अवसर निकल जायेगा—आप हाथ मलते रह जायेंगे—ब्राह्मण हो या चाण्डाल कोई भी""।" महाराज इस नयी घोषणा का प्रभाव आँकने को एक बार फिर से घूमकर जनसमूह के मुखड़े निहारने लगे। भीड़ में पीछे खड़ा एक चांडाल उत्सुक हो गया। उसे दास की आवश्यकता थी। चांडाल होने के कारण वह साहस न कर पा रहा था—कहीं मेरे हाथों बिकने को ही यह तैयार न हुआ तो""। घोषणा के इस नये भाग ने उसके संकोच को दूर कर दिया। वह हाथों से लोगों को पीछे धकेलता आगे आ खड़ा हुआ। बोला—मैं चाण्डाल हूँ""नाम है मेरा—कालदण्ड ! मरघट पर शवदाह का कर वसूलता हूँ। मैं खरीदूंगा—क्या तुम्हें स्वीकार है ?

महाराज ने तत्परता प्रकट करते हुए कहा—"मैं तो पहले ही घोषित कर चुका हूँ। मुझे स्वीकार है। स्वीकार है मुझे।"

कालदण्ड ने पुनः स्पष्ट किया—मरघट में कर और शव वस्त्र वसूलना तुम्हारा काम होगा—तत्पर हो ना। "मुझे जो आदेश देंगे मैं वही सब कुछ करता रहूँगा। ना करना मेरा स्वभाव नहीं है, मालिक !" महाराज ने शीघ्रता ने साथ स्वीकार कर लिया। कालदण्ड ने एक थैली आगे करते हुए कहा—"लो यह राशि है, पूरे बीस सहस्र।"

महाराज ने राशि अंगारमुख को सौंपने को संकेत किया। अंगारमुख ने राशि तो ग्रहण कर ली, किन्तु कुछ विचित्र ही दृष्टि से आचार्य की ओर देखा। आचार्यश्री मुखरित हुए—"तुम क्षत्रिय हो""उच्च कुलोत्पन्न होकर

भी नीच चांडाल के घर दासत्व करोगे ? मरघट का यह हीन और घृण्य कार्य करोगे ? क्या ये मर्यादाहीनता नहीं होगी ?"

"आचार्यश्री, मैंने अपने वचन को निभा लिया है। देखिये सूर्यास्त अभी भी होने को है"—कहते हुए महाराज ने पश्चिम की ओर बाँहें फैला दीं। "शुभ लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता देने वाला मार्ग चाहे कैसा भी हो — अन्ततः वह भी शुभ हो जाता है। मर्यादाहीनता तो तब होती जब मैं अपने वचन-पालन में असमर्थ रह गया होता। विधाता ने लाज रखली है मेरी। अमंगल विचारों की पूर्ति में असफलताएँ ही हाथ लगती हैं और मंगल कार्य सहस्रों बाधाओं को पराजित करके भी अन्ततः सफल हो जाते हैं। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि मैं आपको दिये वचन का पालन कर सका। अब तो आप सन्तुष्ट हैं न आचार्यश्री !" महाराज ने इतना कहा और वे कुलपति आचार्य का मुख जोहने लगे। अंगारमुख को कुछ निराशा हुई। अवसाद के क्षणों में कुलपति आचार्य का मुखमंडल भी निस्तेज हो गया—मानो उन्हें राशि के रूप में कोई असफलता प्राप्त हुई हो। उन्होंने आशीर्वाद सूचक हाथ उठाया, पर मौन रहे। मौन ही उनकी अभिव्यक्ति बन गया था। वे शिथिलता के साथ चल दिये। अंगारमुख उनके पीछे-पीछे हो लिया। महाराज हरिश्चन्द्र समझ नहीं पाये इस अनुत्साह का रहस्य क्या है ? कुलपति आचार्य कुछ बुझ से गये, किन्तु क्यों ?

महाराज ने तब विनय भाव के साथ कालदण्ड से निवेदन किया—"मैं आपका आज्ञावर्ती सेवक हूँ। क्या आज्ञा है स्वामी ?"

"मैं तुम्हें पाकर प्रसन्न हूँ। अब मरघट का काम अच्छी तरह हो सकेगा। चलो, चलते हैं—तुम्हें तुम्हारा कार्यस्थल दिखा देता हूँ।" कहते हुए कालदण्ड ने प्रस्थान किया और महाराज ने अनुसरण आरम्भ किया। कुछ चरण चलकर कालदण्ड ने प्रश्न किया—"तुमने बताया नहीं, नाम क्या है तुम्हारा ?"

महाराज ने कहा—अब दास का भला क्या नाम होगा स्वामी, आप चाहें तो सेवक को 'हरिया' कहकर पुकार सकते हैं। स्वामी कालदण्ड ने नाम सुना और चलता रहा, चलता रहा, पीछे-पीछे नया सेवक हरिया और चलती रही महाराज के मन के भीतर उनके सत्यपालन की अजस्र यात्रा। महाराज के मन में कोई अनुत्साह नहीं, कोई निस्तेजता नहीं। उन्होंने किसी प्रकार सत्यवादिता की रक्षा कर ही ली। □

८

रानी सुतारा क्रीतदासी की भाँति दयनीय दशा में ही थीं। क्रेता (खरीदने वाले) पण्डित महाशय परले छोर के कंजूस और अमानवीय व्यवहार के अभ्यासी थे। घर में पण्डित-पण्डिताइन के अतिरिक्त कोई अन्य-जन नहीं था। अतुल सम्पत्ति के स्वामी पण्डित एक धेला भी किसी अन्य पर व्यय नहीं होने देता। प्रासाद जैसा भवन था, दो प्राणी आवासी थे, किन्तु रानी सुतारा को कोई आश्रय नहीं दिया गया। वे दासी थीं, दासी की भाँति ही उन्हें रखा जाता था। भवन के समक्ष, खुले स्थल पर एक वृक्ष के नीचे उनका बसेरा था। प्रातः से देर रात्रि तक वह पण्डिताइन की सेवा में रहा करती, जब-जब थोड़ा समय मिलता, उन्होंने श्रम किया और काफी दिन खुले आकाश के तले व्यतीत कर लेने के पश्चात्, अब घास-फूस की एक छोटी सी झौंपड़ी बन गयी थी। भीतर बाहर का आंगन मिट्टी से लीपती सुतारा रानी बड़ी दयनीय लगतीं। मखमल के पांवड़ों पर चलने की नियति थी, अपने हाथ से व्यजन भी जिन्होंने नहीं डुलाया—आज उनके हाथ-पैर मिट्टी में लथ-पथ रहते। भाल पर श्रमकण झलकते रहते, रूखी लटें लटकती रहतीं।

पण्डितजी ने अपने यहाँ के पुराने मिट्टी के बर्तन हंडिया, घड़े आदि निकाल दिये थे। ये ही इस कुटिया के बर्तन थे। रोहित और सुतारा जिन वस्त्रों में आये थे—वे ही वस्त्र अब भी थे। रानी यहाँ भरती थी पानी। दूर गंगा घाट से अनेक घड़े भरकर लाना, कपड़े धोना, बर्तन साफ करना, घर भर की सफाई-सब कुछ सुतारा रानी के दायित्व के काम थे। दोनों समय का भोजन तैयार करने का उसका विशेष दायित्व था। ब्राह्मण दम्पति सुतारा से प्रसन्न थे, सन्तुष्ट थे।

पण्डित महाशय की सेवा इनके दायित्वों में जुड़ी नहीं रहती थी।

उनका कोई कार्य इन्हें नहीं करना था। पर-पुरुष मान उन्होंने कभी पण्डित महाशय से वार्तालाप भी नहीं किया। पण्डित महाशय भी इस मर्यादाशीलता का आदर करते थे। ब्राह्मण थे, किन्तु सम्पन्न होने के कारण ही कदाचित् उनमें सदयता का अभाव रहा। कोई कार्य ऐसा नहीं होता, जिससे उनके ममता और स्नेह के भाव का बोध होता। पण्डिताइन की सेवा में सुतारा दिन-रात लगी रहतीं। वे दीर्घ अस्वस्थता के कारण कुछ दुर्बल हो गयी थीं। अब भी घर की देख-रेख वे स्वयं करतीं। अपने निजी काम तो वे स्वयं बिना किसी सहायता के कर लिया करतीं। किन्तु तेल-मालिश करना, बाल सँवारना, हाथ-पैर दबाना—यह टहल-चाकरी सुतारा को ही करनी होती थी। संध्या समय पंडिताइन अपने हाथों से ही सुतारा को आटा-दाल आदि सामग्री प्रतिदिन दे दिया करती थी। सुतारा अपनी कुटिया में ही रूखा-सूखा पकाती और अपने पुत्र को खिलाती, दो ग्रास स्वयं भी चबाकर पानी पी लेती। बस यों किसी प्रकार दिन बीतते रहे।

राजकुमार रोहिताश्व भी माता के संग समय बिता रहा था। पंडित महाशय पूजा-पाठी थे। सबेरे उनकी पूजा के लिए पुष्प चुनकर लाना रोहित का विशेष दायित्व था। दोपहर को पण्डितजी के शयन कक्ष के बाहर बैठकर पंखा भी इसे ही खींचना होता था और पण्डितजी के उठा-धरी के छोटे-मोटे काम भी यही किया करता था। पंडित परिवार आटा-दाल तो दे देता था, किन्तु ईंधन ? ईंधन इन्हें ही जुटानी होती थी। रोहित आस-पास से सूखी टहनियाँ, उपले बटोर लाता। कभी दो उपले अधिक मिल जाते तो ऐसा प्रसन्न हो जाता मानो कुबेर का कोष ही मिल गया हो—बेचारा राजकुमार·····रोहिताश्व·····। पण्डित ने कभी एक धेला भी रोहित की हथेली पर नहीं रखा। अभावों में जीवन काटती रानी सुतारामती को सन्तोष था तो इस बात का कि जीवन के इस नये रूप में भी उनके सतीत्व का पालन पूर्णतः हो रहा था और यह कि कष्ट के दिन तो बीत ही जायेंगे—स्वामी के सत्य-पालन की रक्षा हो गयी उन्हें और क्या चाहिए था ?

× × ×

सामने गंगा-तट था। इस विरल यामिकी में हल्का अँधियारा उतरने लगा था। पक्षियों की चहचहाहट का तीव्र स्वर सभी ओर फैला हुआ था। इस एकान्त स्थल को इस समय दो मानवों ने पदाक्रान्त किया। आगे-आगे एक सघन श्यामवर्णी, दीर्घकाय, बलिष्ठ व्यक्ति था। ऐंठी हुई घुमावदार

मूँछें। घुटनों तक कसी धोती, हाथ में कान तक ऊँची मजबूत लाठी। पाँवों में भारी उपानह। कलाइयों में चाँदी के कड़े और माथे पर वस्त्र का एक पट्टा इस प्रकार कसा हुआ था कि उसके लम्बे बाल भाल पर नहीं फैलें। मुख मण्डल की श्यामता ने दाँतों की श्वेतता और नेत्रों की अरुणिमा को और अधिक बढ़ा दिया था—आकृति भयावह हो उठी थी। यह महाराजा हरिश्चन्द्र—हरिया का क्रेता चाण्डाल कालदण्ड था। पीछे-पीछे हरिया जी स्वयं चले आ रहे थे।

दोनों एक उच्च भूमि पर आकर रुके। कालदण्ड ने अपने सहज उच्च स्वर में बताया—हरिया''''सुन यह हमारी श्मशान भूमि है। दूर-दूर तक फैले उस आखिरी चिता तक का यह सारा क्षेत्र अपना है। दाह के लिए जो शव इस भूमि में आते हैं हमें उनका कर लेने का अधिकार है। शव के मृत्यु चीर का आधा भाग हमें दिये बिना किसी शव का दाह-संस्कार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार शवदाह के काष्ठ का आधा भाग भी हमें मिलता है। इस सब का आधा भाग राज्य के पास चला जाता है। आधा भाग हमारा रहा करता है। अब हमारे भाग का आधा तेरा होगा हरिया।''

कालदण्ड ने सारी बात को सविस्तार समझाते हुए कहा—''हरिया ''''इस मरघट का आज से तू प्रहरी होगा। तेरा काम कर वसूलना है। कोई भी चोरी-छिपे, बिना कर चुकाये मरघट का उपयोग न करे, यह देखना अब तेरा काम होगा। इसी दायित्व के लिए हमने तुझे खरीदा है। समझ गया है न अपना काम—अच्छी तरह से।''

''जी मालिक समझ गया''''अच्छी तरह से समझ गया हूँ। मेरे काम में कोई ढील नहीं रहेगी''—कहते हुए हरिया ने सिर झुकाकर प्रणाम किया।

कालदण्ड यह कहकर चला गया कि आज से ही तेरा काम आरम्भ हो गया है। रात्रि में कम ही अर्थी आती हैं, फिर भी सावधान तो तुझे रहना ही है। क्या दिन और क्या रात तुझे यहीं रहना है, चौकस और चौकन्ना''''समझे! अब हम जाते हैं। हरियाजी अकेले रह गये सांय-सांय करते इस मरघट में। कुछ चिताएं अब भी जल रही थीं। अधजले शवों की आकृतियाँ भी स्पष्ट दीख पड़ती थीं। मांस दाह की विचित्र सी गंध से जी मिचला जाता था। कहीं-कहीं शृगाल चिताओं के आसपास चक्कर लगा रहे थे कि अवसर पाकर कोई अधजला पिंड खींच लें। महाराज ने एक झाड़ी

से लम्बी सी टहनी तोड़ ली और उसे हाथ की लकुटी बनाकर वह दूर-दूर तक सारे मरघट में चक्कर लगा आये। भय तो उन्हें छूकर भी कभी नहीं निकला, किन्तु सारा वातावरण नया-नया और असामान्य तो लग रहा था।

अभी भी हल्का-हल्का उजाला था। हरिया ने रात्रि बिताने की तैयारी आरम्भ कर दी। सूखी लकड़ियाँ और दो-तीन लट्ठे उसने एक पेड़ के नीचे एकत्रित कर लिये। घाट पर जाकर गंगा माई की वन्दना की—हाथ जोड़ स्तुति की। शीतल जल से उसने हाथ-पैर धोये। कांधे से चादर उतारकर पोंछ लिया। अंजुलि भर-भरकर जल पी लिया तो ताजगी आ गयी। पेट में एक दाना अन्न भी नहीं गया था। रात्रि इस जल-पान पर ही व्यतीत करनी होगी। यह सोचते हुए वह उसी पेड़ की ओर बढ़ गये जिसके नीचे उन्होंने सूखी लकड़ियाँ बटोर कर डाल दी थीं। "बैठ भैया हरिये.... बैठ, अब तो तुझे रात्रि जागकर ही बितानी है। नौकरी तो बजानी ही होगी ना।—" कहते हुए हरिया लकड़ी के एक बड़े लट्ठे पर जम कर बैठ गये।

कोई एक पहर रात्रि बीती होगी। कुछ लकड़ियों का ढेर बना कर चिता की आग लाकर उसमें डाल दी थी। अब ज्वालाएँ उठने लगी थीं। आस-पास कुछ प्रकाश फैल गया था। लठिया पास में रखी थी। दूर-दूर से शृगालों की आवाजें रह-रहकर आ जाती थीं। इस एकान्त ने महाराज को अतीत में पीछे....बहुत पीछे लौटा दिया। एक चलचित्र सा उनकी कल्पना की आँखों के सामने से निकलता जा रहा था। सहसा उन्हें रानी सुतारा का स्मरण हो आया—वे सिर से पाँव तक काँप उठे। कहाँ होंगे सुतारा-रोहित.... न जाने क्या हाल होगा उनका! वे मेरी सत्यवादिता की टेक के लिए बलि हो गये। हो क्या गये, मैंने उनके साथ अन्याय किया....इस अन्याय के लिए मैं कभी स्वयं को क्या क्षमा कर पाऊँगा? अपने यश के लिए मैंने....नरेश हरिश्चन्द्र उस शान्त रजनी में यों....विचार-प्रवाह में बहे चले जा रहे थे कि सहसा उन्हें कोई क्रन्दन सुनायी दिया—वे सतर्क हो गये और लठिया थामे उठ खड़े हुए। आँखों पर हथेली की छाँह करते हुए दूर-दूर तक देख लेने का प्रयत्न किया। उन्हें लगा कि कोई अर्थी लायी गयी है। अब रोना-चिल्लाना बन्द हो गया था। उन्हें लगा जैसे गुपचुप ही काम किया जा रहा हो।

हरिया की दायित्व भावना जाग उठी। वे दौड़कर उस ओर आगे बढ़े""ललकारते जा रहे थे""कौन है""कौन है कैसे कोई चुप-चाप मुर्दा फूंक रहे हैं। हमारे होते यह सब नहीं चलेगा। हम कभी भी""" लठिया पगडंडी पर फटकारते हुए हरिया पहुँच गये और डपट कर कहने लगे—"कौन लोग हो तुम ? जानते नहीं, मरघट में कर दिया जाता हैं। इसके पहले मुर्दा फूंकना अपराध है। लाओ आधा मृत्यु कर दो आधा चिता का ईंधन दो। फिर तुम लोग आगे कर""""

भैया दया करो""दया करो भैया""गरीब बुढ़िया का घरवाला शांत हो गया है। बेचारी के पास कुछ भी नहीं कहाँ से देगी""सोचो भैया! तुम तो दयालु हो तनिक"—एक व्यक्ति बोला।

तनिक""तनिक कुछ नहीं होता""हम कर वसूल होने पर ही दाह संस्कार होने देंगे, नहीं तो अर्थी को ज्यों का त्यों मरघट के बाहर कर देंगे। कर्तव्य के सामने दया क्या करेगी ?

भैया तुम अपना हिस्सा ले लो ना! हम देंगे""देंगे हम। तुम्हारा हक हम नहीं मारेंगे""हमें चिता चुनने दो।"

यह कथन सुनकर हरिया के तन-बदन में आग लग गयी। बोले—"हमें धर्म से हटाना चाहते हो, चाहते हो कि हम पाप के मार्ग में पड़ जायें। लज्जा नहीं आती तुम्हें। हम नियम पर चलेंगे—दूसरों को भी नियम पर ही चलाएँगे। हमसे कोई उम्मीद न रखना। लाओ, जल्दी करो—हमें और भी काम हैं।"—यह कहते हुए उन्होंने हाथ आगे बढ़ा दिया।

"शाबास हरिया""शाबास !"—पीछे से भारी ध्वनि आयी। देखा तो हरिया ने पाया उनका मालिक कालदण्ड खड़ा मुस्कुरा रहा था। बोला—"मुझे तुम्हारी स्वामिभक्ति, ईमानदारी और कर्त्तव्यपरायणता पर गर्व है। धन्य हो तुम और तुम्हारी लगन।"—कुछ रुककर कालदण्ड ने कहा—"मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। आगे भी तुम इसी तरह ईमानदारी से काम करते रहोगे""मैं ऐसा मानता हूँ।"

मालिक आप मुझ पर पूरा विश्वास कर सकते हैं। मैं ईमानदार और परिश्रमी हूँ। अपने कर्त्तव्य से मुँह मोड़ना मुझे नहीं आता -मैं सत्य-वादी हूँ मालिक, सत्यवादी।"—हरिया ने कहा और उसका मस्तक ऊँचा हो गया।

"सत्यवादी""हः हः हः" अट्टहास किया कालदण्ड ने। अरे सत्यवादी तो अयोध्यानरेश महाराज हरिश्चन्द्र हैं। बस वे ही हैं। कहाँ महाराजा हरिश्चन्द्र और कहाँ चाण्डालदास हरिया""" इतना कहकर कालदण्ड फिर से अट्टहास कर उठा। उसने तो उपहास किया था, किन्तु हरिया का वक्ष गर्व से फूल उठा। उन्हें सभी ओर उत्साह और उमंग, उल्लास का वातावरण लगा। उन्हें लगा जैसे उनके सत्याचरण का लोकानुमोदन हो गया हो, जन-जन की श्रद्धा प्राप्त कर मानो उनका सत्याचरण धन्य हो उठा था।

९

काशी-नरेश महाराज चन्द्रशेखर की विशाल और परम्परागत वैभव सूचक राजसभा। रत्नजटित मूल्यवान स्वर्ण किरीट धारण किये, महाराज सिंहासन पर विराजित। यथाक्रम अमात्यगण, उच्चाधिकारी, सामन्त, सभ्यजन आसीन। सभी दर्शक दीर्घाएँ भी जन बहुल और आज तो रनिवास दीर्घा भी खचाखच भरी। सभा मध्य के स्फटिक पीठ पर वस्त्र से आवृत कोई वस्तु रखी हुई थी। समस्त उपस्थिति की जिज्ञासा और कुतुहल का केन्द्र बनी हुई थी यह वस्तु।

अनेक राजकार्य सम्पन्न हुए, अनेक प्रश्नों पर विचार-विमर्श हुआ। महाराज ने अनेक प्रसंगों पर अपनी व्यवस्थाएँ दीं। तभी अब कुछ रिक्त समय आ उपस्थित हुआ था और अमात्य वसन्तराज अपने स्थान पर उठ खड़े हुए। महाराज की जय हो! एक पक्षीपाल अपने अनूठे तोते का चमत्कार प्रस्तुत करने को उपस्थित हुआ है महाराज!

"तोता""हूँ""हूँ""हूँ"—महाराज ने मुस्कुराते हुए कहा—"क्या अनूठापन होगा तोते में""कुछ रटी रटाई बातें दोहरा देता होगा""और क्या होगा?"

तभी पक्षीपाल आगे बढ़ा। झुककर प्रणाम करते हुए उसने कहा—"महाराज की जय हो। यह तोता साधारण, सामान्य करतब दिखाने वाला जीव नहीं है। इसके अपने अलग ही चमत्कार हैं। अनेक राजसभाओं में इसके प्रदर्शन किये गये हैं। सर्वत्र इसे सराहा गया है महाराज! आदेश हो तो""।"

"क्या विशेषता है इस तोते की"—रुचि दिखाते हुए महाराज ने जिज्ञासा व्यक्त की।

"महाराज यह आत्माराम विद्वान है, चिन्तक और विचारक है।"

पक्षीपाल ने कहा—"महाराज यह पक्षी स्वबुद्धि से वार्तालाप कर सकता है, शास्त्रों के सिद्धान्तों के आधार पर आत्माराम पण्डितों से शास्त्रार्थ कर सकता है। खण्डन-मण्डन कर सकता है यह विवेकी आत्माराम, तर्क-प्रमाण प्रस्तुत कर सकता है, महाराज ! पक्षी योनि में यह कोई पूर्वभव का विद्वान पण्डित ही है।"

महाराज चन्द्रशेखर आत्माराम की यह प्रशस्ति सुनकर बहुत प्रभावित हुए। इस योग्यता के पक्षी देखे नहीं जाते। कुतुहलवश उन्होंने पक्षीपालक से प्रश्न किया –क्या यह सामान्य जनों से सामान्य वार्तालाप भी कर सकता है ?

"जी महाराज, कर सकता है—" कहते हुए पक्षीपालक ने आगे बढ़कर वस्त्र खींच लिया। स्वर्ण पिंजरे में कीर फड़फड़ा उठा। उसके पंखों की खड़खड़ाहट राजसभा में गूँज उठी। "महाराज आप अपने मनचाहे विषय पर इससे वार्तालाप कर सकते हैं। आत्माराम अपनी योग्यता के अनुसार वार्तालाप में भाग लेता है। कई-कई लोगों की मण्डली में भी सम्मिलित होकर बातचीत कर लेता है।" यह कहते हुए पक्षीपालक ने आत्माराम को पुचकारा और अपनी उँगली पिंजड़े में डाली। कीर ने बड़े प्यार से अपनी चोंच में उँगली को थामा और एक बार हवा में झूल कर फिर से पंख फड़फड़ा दिये।

महाराज आत्माराम से वार्तालाप करने को काशी नरेश कोई विषय खोज रहे थे। उन्होंने देखा आत्माराम के दाने-पानी के पात्र भी रत्न जटित हैं। बोले—"आत्माराम तो बड़े सम्पन्न वर्ग के हैं। स्वर्ण का तो इनका प्रासाद है। रत्नों जड़े पात्र हैं।" तभी उनकी दृष्टि कीट की हीरे जड़ी पैंजनियों पर पड़ी। वे कुछ टिप्पणी करने वाले थे कि पक्षीपालक बोल उठा—"आप जैसे गुणीजनों का आदर करने वाले एक भूपति ने ही आत्माराम को यह सब कुछ भेंट किया है। नरेश ने अपने राज्य की एक विषम समस्या पर चर्चा की थी और आत्माराम के साथ विचार-विमर्श से उस समस्या का समाधान निकल आया था महाराज ! नरेश को अपार प्रसन्नता हुई थी।"—इतना कहकर पक्षीपालक आत्माराम से बतियाने लगा।

काशीराज ने आत्माराम के साथ वार्तालाप का विषय पा लिया। महाराज चन्द्रशेखर अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति के थे। प्रजा जन का भी धर्मानुराग बहुत बढ़ा-चढ़ा था। सर्वत्र सुख-शान्ति थी, सम्पन्नता थी। कहीं भी

कोई दीर्घ व्यवधान दृष्टिगत नहीं होता था, किन्तु विगत कुछ साल से यह नगर अभिशप्त सा हो रहा था। भयानक महामारी की चपेट में आ गयी थी काशी। नित्य अनेकानेक जन मृत्यु के ग्रास हो रहे थे। सभी उपाय निष्फल हो रहे थे। राजा इस संकट के कारण बड़े चिन्तित थे। उन्होंने आत्माराम के साथ इस विषय पर चर्चा करना चाहा। आत्माराम का पिंजड़ा खोल दिया गया। वह पिंजड़े के ऊपर बैठ गया। सभी उसे बड़े कुतुहल से देखने लगे थे। "महाराज की जय हो—आत्माराम विनय के साथ प्रणाम करता है महाराज!"—यह कहते हुए तोते ने अपनी चोंच झुकाकर गर्दन में खोंस ली। यही कदाचित् उसका सिर झुकाना था। एकदम स्पष्ट शब्दावली थी। सभी ने सुना और समझ लिया—सुगमता के साथ। महाराज ने हाथ उठाकर अभिवादन का उत्तर दिया। दोनों के मध्य वार्तालाप हुआ। कुछ औपचारिक चर्चाएँ होती रहीं अन्ततः मूल प्रकरण के आने पर कीर ने एक स्पष्टोक्ति की—"महाराज समस्या तो बड़ी गंभीर है। इसका समाधान शीघ्र न हुआ तो जनता पलायन करने लगेगी। काशी सूनी हो जायेगी।" महाराज के पूछने पर कीर आत्माराम ने कहा—"आपके महामात्य इस समस्या से बहुत चिन्तित हैं। उन्होंने उज्जयिनी से अपने एक विद्वान और अनुभवी मांत्रिक मित्र को बुलवाया है मैं उन महाशय को यहाँ राजसभा में भी देख रहा हूँ। उनसे उपचार करवाकर देख लीजिये।" आत्माराम इतना कहकर मौन हुआ ही था कि महामात्य अपने स्थान पर उठ खड़े हुए। उन्होंने महाराज की वन्दना कर निवेदन किया—"मुझे नहीं ज्ञात महाराज कि इन्हें कैसे पता चला कि मैंने मित्र को निमंत्रित किया है और अब वह मित्र यहाँ विद्यमान भी हैं, किन्तु यह सत्य और तथ्य है। ये रहे मेरे मित्र प्रचण्डवाक् मंत्रविद्।" इसी समय प्रचण्डवाक् ने उठकर महाराज चन्द्रशेखर को प्रणाम किया। महामात्य ने आगे कहा—"मेरे ये मित्र मंत्र विद्या में सिद्धहस्त हैं। बड़ा यश अर्जित किया है इन्होंने।"

पं० प्रचण्डवाक् ने—"महाराज का यश चहुँदिशा व्याप्त हो" आशिष दी और आत्म परिचय देते हुए निवेदन किया "देव, साधारण सा जन हूँ। मेरी क्या महिमा—महिमा तो मंत्र विद्या की है। काम इस विद्या का और नाम मेरा होता आ रहा है। बड़े-बड़े प्रश्नों को हल कर चुका हूँ देव! इस मंत्र बल से। यथार्थ यह है प्रभो, कि मंत्रों की शक्ति बड़ी अद्भुत होती है।"

"पंडितजी हमें आपसे भेंट कर बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे पिछले काफी

समय से बड़ी चिन्ता है। पुण्यों की नगरी काशी में यह दैवी प्रकोप है—महामारी का प्राणान्तक आतंक छाया है। आप तो विपद्हारी हैं, कृपा कीजिये और काशी की रक्षा कर लीजिये।" महाराज चन्द्रशेखर ने प्रस्तावना निर्मित की ही थी कि सहसा राजसभा करुण क्रन्दन से भर उठी। भारी रुदन गूँजने लगा। महाराज भी सभा द्वार की ओर ताकने लगे। सभी उत्कंठित हो उठे। पं० प्रचण्डबाक् भी जिज्ञासावश मौन होकर देखते रह गये। उस रुदन के स्वर में क्रमशः तीव्रता होती जा रही थी। अब शब्दावली भी स्पष्ट होने लगी थी। हाय मेरी प्यारी बिटिया, चांद-सी ···फूल सी बिटिया हाय! अब किसे मैं बिटिया कहूँगी। हाय! मैं लुट गयी ·· मेरा सर्वनाश हो गया ·· कहती हुई एक हाल-बेहाल स्त्री महाराज के समक्ष आ खड़ी हुई—"दुहाई है महाराज दुहाई है आपके न्यायशील राज्य में यह कैसा अन्याय है देव! मेरी इकलौती बिटिया ···।"

"शान्त हो···धीर धरो नारी!" महामात्य ने उसके वचन-प्रवाह को रोकते हुए कहा। "कौन हो तुम? क्या संकट है? विस्तार से सारी बात समझा कर कहो। तुम्हारा संकट दूर करने का शक्य भर प्रयत्न किया जायेगा। अपना परिचय तो दो!"

हांफते हुए उसने थूक निगलकर एक लम्बी सांस खींची। बोली—देव! मैं गणिका हूँ, काशी की नगरवधू। मेरी एक ही बेटी थी प्रभु एक अकेली बेटी ·· कहते-कहते वह बिलख पड़ी। आंखों से भारी अश्रु प्रवाह होने लगा। मुख के सामने आयी केश-लटों को पीछे करते हुए उसने कहा—"वही मेरी बेटी, वही मेरा बेटा। कल रात्रि तक वह हँसती-खेलती रही। अचानक रात्रि को क्या हुआ, कुछ कहा नहीं जा सकता सवेरे उसकी मृत देह ही मिली। प्रभो· मैं तो लुट गयी मेरे साथ न्याय हो। मेरी सहायता की जाय देव! मैं प्रभु के दरबार में उपस्थित होने को घर से निकली तो लोग डरकर भागने लगे···कहने लगे कि मैं पागल हो गई हूँ···बौरा गयी हूँ। क्या मैं पागल हूँ लोगो बताओ मैं पागल हूँ? मैं बौरा गयी हूँ क्या?? मैं पागल नहीं मैं पागल नहीं मैं पागल नहीं।" सुन्दरी के खुले केश हवा में उछल रहे थे। उसकी गर्दना घूम रही थी, उसके चारों मानो भय का एक घेरा बना हुआ था। उसके नेत्र रक्ताभ हो उठे थे। वस्त्र अस्त-व्यस्त थे और रोषावेश से वह झूम रही थी।

महामात्य ने उसे आश्वस्त करना चाहा, किन्तु कोई प्रभाव नहीं

हुआ। पं० प्रचण्डवाक् ने मंत्रोच्चारण के साथ अभिषिक्त जल के छींटे दिये। परिणामस्वरूप गणिका शान्त और संयत हो गयी। अत्यधिक थकित सी वह निढाल हो रही थी। महाराज के संकेत पर उसे भूमि पर बिठा दिया गया। महाराज ने अभयदान करते हुए गणिका से कहा—"शान्त हो जाओ! तुम्हारे भाग्य से ही आज काशी में पंडित जी आये हुए हैं। ये तुम्हारी सहायता करेंगे, नारी! दैव ने चाहा तो सब कुछ ठीक ही हो जायेगा।" गणिका हाथ जोड़कर आभार मानने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकी।

पं० प्रचण्डवाक् ने मन ही मन मंत्रों का पाठ किया। कुछ मुखर मंत्रोच्चारण के साथ उन्होंने पानी का एक घेरा बनाया। उसमें ध्यान लगा कर, घूर कर देखा और जोर से अट्टहास कर उठे। "उठ गणिके, स्वस्थ हो जा। तेरा भाग्य ही अच्छा है। तेरी बेटी " बेटी पुनर्जीवित हो उठी है। शीघ्र ही स्वस्थ भी हो जायेगी।" उपस्थित जनों ने अर्धविश्वास के साथ बात सुनी। महाराज विस्मित हुए और दुःख की मारी गणिका तो इसे सच मान ही नहीं सकी। दुखिया के साथ विनोद न करो पंडितजी अब वह क्या स्वस्थ होगी। लोग तो अर्थी बांध रहे थे। मेरे साथ घोर अन्याय हुआ है देव, मेरा भाग्य क्या इतना निष्ठुर है।"

इसी समय दो पारिचारिकाएँ दौड़ती हुई आयीं और गणिका से कहने लगीं—"स्वामिनी! चमत्कार हो गया। ऊपर वाले ने हमारी सुन ली। चंद्रिका जीवित हो उठी मानो सोकर उठी हो।"

दूसरी ने कहा—"हाँ स्वामिनी! हम अपनी आंखों से देखकर आ रही हैं। आपके लिए पूछ रही थीं। चलिये, शीघ्रता कीजिये न अब!"

इस संवाद ने गणिका में अद्भुत शक्ति और स्फूर्ति का संचार कर दिया। त्वरा के साथ वह उठ खड़ी हुई। एक अंगड़ाई लेकर उसने महाराज और पंडित जी का जय-जयकार किया। "अन्ततः महाराज के द्वार से हमें न्याय मिल गया " चिल्लाती हुई वह दौड़ पड़ी। परिचारिकाएं पीछे हो लीं।

पं० प्रचण्डवाक् के मुख पर गर्व, महाराज के मुख पर विस्मय की रेखाएं उभर आयी थीं। सभी सभ्यों के मन में अद्भुत प्रतिक्रियाएं हो रही थीं। इसी समय महामात्य ने काशी की महामारी की समस्या प्रस्तुत कर दी और पं० प्रचण्डवाक् से अनुरोध किया कि इससे हमारा त्राण कीजिए।

जन-जन त्रस्त और मृत्यु भय से ग्रस्त है। लोकोपकार कीजिये महाशय—महामात्य का अनुरोध था।

"हमने पंडित जी की मंत्र शक्ति का उत्कट प्रभाव अपनी आँखों से देख लिया है। अपूर्व गति है आपकी। आप ही काशी वासियों का उद्धार कर सकते हैं। कृपा कीजिये पण्डित जी हमें उपकृत कीजिये।" महाराज ने भी अनुनय की।

हाथ उठाकर पंडित जी ने सभी को आश्वस्त किया और नेत्र मूँदकर ध्यानस्थ हो गये। कई क्षणों तक सारे वातावरण में अचल मौन बना रहा। उत्सुक हृदय से सभी आगामी क्षणों की प्रतीक्षा करने लगे जब पंडितजी की कोई प्रतिक्रिया हो। तभी पंडितजी की अचंचल देह में कुछ गति आयी। उनके अधरों पर मंत्रों की हलचल होने लगी और धीरे-धीरे उनकी पलकें खुलने लगीं। शान्त, धीर मुद्रा में उन्होंने कहा—"राजन! विकट पिशाच बाधा है। महामारी उसी का परिणाम है। महाराज उत्पात बहुत सशक्त है किन्तु निरुपाय तो मैं भी नहीं हूँ। समाधान करना होगा और शीघ्र ही करना होगा, अन्यथा पिशाचिनी निगल जायेगी सारी काशी को।"

"उपाय कीजिये पण्डितजी, शीघ्र ही कीजिये। उबार लीजिये मेरी काशी को"—राजा अधीर होकर बोले—"अन्ततः है कौन यह पिशाचिनी? कहाँ है वह?"

"राजन्! बड़ी विकट है, भयंकर और दुर्धर्ष है वह। ऊपर से इतनी भोली कि उसके विनाशक उत्पातों की आप कल्पना भी नहीं कर सकेंगे।' पण्डित प्रचण्डवाक् ने कहा। इसी समय आत्माराम लम्बी मौन तोड़कर बोल उठा—"ढोंगी है, पाखण्डी है।" महाराज चन्द्रशेखर को तोते का बोलना ठीक न लगा। उन्होंने बात को सँभालते हुए कहा—"अबोध प्राणी है पण्डितजी—उपेक्षा का पात्र है। हाँ, उस पिशाचिनी का उपाय कीजिये ना।"

एक लम्बी साँस के साथ क्रोध को छोड़ते हुए पण्डितजी ने कहा—"महाराज उस पिशाचिनी ने काशी को ही अपना घर बना लिया है—वह यहीं निवास कर रही है। जब तक अघा न जायगी—यह स्थल वह त्यागेगी नहीं।"

"किस दिशा में उसका निवास है—पण्डित प्रवर!" महामात्य ने कहा—"मैं अपने सैन्य दल को सक्रिय करता हूँ।" पण्डितजी ने उपहास

करते हुए कहा—"महामात्य जी ! तुम्हारी सेना उसे खोज भी नहीं सकती, उसकी शक्ति के परे हैं ये सारे प्रपंच। ये तो मन्त्र बल से ही वश में आती हैं।"

"पण्डितजी ! फिर उसका पता कैसे लगे ?" महाराज ने जिज्ञासा-वश प्रश्न किया। और उन्हें निश्चिन्त करने वाला एक उत्तर प्राप्त हुआ। पण्डितजी ने बताया कि "मेरे मन्त्र उसे यहीं खींच लाएँगे राजन् ! और कोई कोई शक्ति, कोई प्रभाव सफल नहीं होगा।"

महाराज चन्द्रशेखर पण्डित प्रचण्डवाक् की क्षमता से परिचित हो चुके थे, उसका चमत्कार देख चुके थे। अस्तु वे काशी के कष्टमोचन का एकमात्र सफल स्रोत पण्डितजी की मन्त्र-शक्ति को ही मान रहे थे। पण्डित जी इस समय काशी के भाग्यविधाता बन बैठे थे। उन्होंने नये सिरे से मन्त्र-अनुष्ठान आरम्भ किया। ध्यान-मग्न होकर वे स्वकेन्द्रित रूप में समस्त चेतना का संकलन कर मंत्रोच्चार कर रहे थे। इसी समय पिशाचिनी आ उपस्थित होगी—इस आशा से महाराज और समस्त सभासद उत्कंठित हो उठे थे। इसी समय पण्डितजी ने एक मन्त्र अत्यन्त उच्च स्वर में पढ़ा और अंजलि भर-भर कर तीन बार जल छिड़क दिया—सभा भवन में, सभी दिशाओं में। तभी एक प्रौढ़ महिला अपने साथ एक गौरवर्णी, सुन्दर, सुशील और संभ्रान्त लगने वाली महिला को लेकर आ उपस्थित हुई। राजसभा में आकर प्रौढ़ा ने उस स्त्री को आगे बढ़ने का संकेत किया और स्वयं पीछे हटकर सभा-भवन से बाहर हो गयी। स्त्री नेत्र झुकाए, गर्दन नीची किये, चुपचाप धीमे-धीमे आगे बढ़ी और महाराज के समक्ष आ खड़ी हुई। उसने प्रणामादि की औपचारिकता भी पूरी करना उपयुक्त नहीं समझा—ऐसा प्रतीत हुआ। लज्जावनत, मौन, गम्भीर, अचंचल खड़ी थी वह।

सभासदों को वह परिचय उपयुक्त प्रतीत होने लगा, जो पं. प्रचण्ड-वाक् ने पिशाचिनी के विषय में पूर्व ही में दे दिया था। पण्डितजी के प्रभाव, उनकी क्षमता और चमत्कार से सभी अभिभूत हो उठे थे। महाराज तो अब काशी के संकट को समाप्ति के कगार पर ही मानने लगे थे। मन का अमित सन्तोष उनके अधरों पर मुस्कान बनकर खिल उठा था। इसी समय पिंजर-बद्ध कीर आत्माराम फिर फड़फड़ा उठा। बड़ी देर तक उसने अपनी फड़-फड़ाहट जारी रखकर सभी का ध्यान अपनी ओर केन्द्रित कर यह आभास करा दिया कि अवश्य कुछ असाधारण कुछ असामान्य है, किन्तु किसी ने

कोई संकेत ग्रहण नहीं किया। पण्डितजी ने तीक्ष्ण दृष्टि से पिंजरे की ओर अवश्य घूरा था और काशीनरेश की भृकुटियाँ तन गयी थीं। आत्माराम ने अपनी कोई प्रतिक्रिया दी अवश्य""किन्तु कुतूहल भरे उस वातावरण में उस बेचारे की हलचल आयी-गयी ही हो गयी।

गम्भीर वाणी में पण्डित प्रचण्डवाक् ने घोषित किया—"राजन्! यही है आपके समस्त संकटों की मूल। जब तक बाँस रहेगा—बाँसुरी बजती रहेगी, राजन्! बुरा फल न चाहने वाले बुराई की लता को ही निर्मूल कर देते हैं।" इतना कहकर प्रचण्डवाक् मौन हो गये और सभी सभासदों के चेहरे पढ़ने का प्रयत्न करने लगे। सभी साँस रोके, अचंचल भाव से आगामी क्षणों की गतिविधियों की प्रतीक्षा में आतुर हो उठे। पण्डितजी ने अन्तिम वाक्य जोड़ा—"मेरा आशय तो आप समझ ही गये होंगे—महामात्य जी!"

स्त्री जैसे कुछ समझ नहीं पा रही हो कि उसे क्यों कर बुला लिया गया है यहाँ। महाराज चन्द्रशेखर ने इसी समय सरोष कहा—पापिनी, तूने काशी का रक्तपान खूब कर लिया—आज तेरा निर्णय हो जायगा। काशी की भूमि तेरे कण्ठ से बहे उसी रक्त का पान करके ही सन्तुष्ट होगी, दुष्टे! नारी-हत्या से बचना चाहता हूँ, अन्यथा मैं अपनी ही खड्ग से वध करता तेरा—पिशाचिनी!! रोषावरोध के कारण उनके कण्ठ से कुछ क्षण शब्द ही नहीं निकल पाये।

"वध किया जाय""छोड़िये नहीं इसे""पापिन के प्राणों का अन्त होना ही चाहिए"—आदि-आदि अनेक रोषोक्तियाँ सभा-भवन में उठती रहीं। महाराज ने हाथ उठाकर सभी को शान्त किया—कहा, "दुष्टा, पापिनी का वध होगा—अवश्य होगा और यहीं इसी समय होगा। महामात्य जी!" महामात्य ने नमनपूर्वक निवेदन किया "महाराज! इसकी भी व्यवस्था की जा चुकी है।" महामात्य के संकेत पर स्त्री के हाथ पीछे बाँध दिये गये। स्फटिक पीठिका पर उसकी गर्दन झुका दी गयी, उसके सूखे, लम्बे केश मुख पर घिर आये। पीठिका से स्त्री के शरीर को कसकर बाँध दिया गया। इतना कर सैनिकगण पीछे को हटकर पंक्तिबद्ध खड़े हो गये। तभी महामात्य के संकेत पर घंटे की टंकार हुई। प्रचण्ड कालदण्ड तभी आ उपस्थित हुआ और सेवक हरिया उसके पीछे-पीछे। दोनों ने झुककर नृप चन्द्रशेखर को प्रणाम किया और मौन नमित खड़े रह गये। "कालदण्ड! आज काशी के संकट कट जाने वाले हैं"—महाराज ने कहा—"इस दुष्ट नारी का वध करो, एक ही प्रहार में प्राणान्त हो…।"

कालदण्ड ने अपनी कमर में लगी खड्ग खींच ली। होंठों से उसे छूकर महाराज के समक्ष वह कमर तक झुक गया और तुरन्त तनकर खड़ा हो गया। उसने पीछे मुड़कर अपना खड्ग हरिया को दिया और उसे आगे बढ़ने का संकेत किया। खड्ग उठाकर हरिया भारी चरणों से आगे बढ़ा। स्वामी की आज्ञा का पालन करने को वह पूर्णतः तत्पर था। स्फटिक पीठिका से बँधी, वध्य स्त्री के समीप पहुँचकर वह सिर से पैर तक कांप उठा""यह तो रानी सुतारा है। केश आगे हो जाने के कारण खुली ही गर्दन पर बड़ा सा नीला चिह्न स्पष्ट दिखायी दे गया था। महाराज हरिश्चन्द्र के मन में भयंकर विचार द्वन्द्व उठा। अन्तर्द्वन्द्व की इस भीषणता ने हाथ को कँपा दिया। हाय! यह कर्त्तव्य भी निभाना होगा—इतना निर्मम, इतना निष्ठुर। सत्यवादिता की परीक्षा में इतनी कठोर स्थिति भी आयेगी—कल्पना भी नहीं थी। अपनी प्रियतमा, धर्मपत्नी का अपने हाथों ही वध करना होगा—इतनी कठोर परीक्षा। इसके पूर्व ही मैं उठ क्यों नहीं जाता। ये प्राण और क्या-क्या देखने को अड़े बैठे हैं। कैसे मेरे हाथों यह हो सकेगा!! विचार-प्रवाह तीव्रतर होता जा रहा था—तभी कालदण्ड ने तनिक जोर से खखारा और संकेत कर दिया। हरिया ने भी संकेत ग्रहण कर लिया। विचार-निद्रा से जागृत होकर वे तनिक सचेष्ट होते हुए आगे बढ़े। नेत्र उनके कसकर बन्द हो गये। खड्ग पर मुट्ठी की पकड़ दृढ़तर हो गयी। खड्ग ऊपर को उठा""और ऊपर उठा""भुजा में सारे शरीर की ही शक्ति जैसे संकलित हो उठी थी। प्रहार की प्रक्रिया आरम्भ होने को ही थी कि पिंजरे में खड़खड़ाहट हुई, जोरों से हुई। ठहरा हुआ क्षण फिसल पड़ा। आत्माराम की शब्दावली सभी ने सुनी, सुना सभी ने, वह कह रहा था—"महाराजा हरिश्चन्द्र अयोध्या नरेश को हमारा प्रणाम!! महारानी सुतारा को भी हमारा प्रणाम ज्ञात हो!!"

आत्माराम की इस बात को कोई समझ नहीं पाया। कौन है यहाँ महाराजा हरिश्चन्द्र, कौन सुतारा? कोई प्रसंग नहीं जुड़ पा रहा था। अनर्गल प्रलाप समझा जा रहा था यह—पक्षी, पक्षी ही तो है, अबोध!

महाराज ने सतर्क किया—"कालदण्ड!"

कालदण्ड ने सतर्क किया—"हरिया!"

हरिया पुनः सक्रिय, हाथों में स्फूर्ति का प्रत्यावर्तन, दृष्टि स्थिर, दाँत भिड़े हुए, होंठ भिंचे हुए और नासिका तनकर नुकीली। तत्परता पुनः

केन्द्रित और पूर्णतः संकलित। इस घोर अनीति से काँपते हुए आत्माराम ने पुनः प्रयत्न किया—अयोध्या का महामात्य वसुभूति हूँ मैं। मैं इस रूप में इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी सुतारा को पुनः प्रणाम करता हूँ, नमन-वन्दन करता हूँ। मैं वसुभूति हूँ, आपका महामात्य।

आत्माराम ने फिर एक समस्या निर्मित कर दी। राजा चन्द्रशेखर ने खड्गधारी हरिया से प्रश्न किया—"कौन हो तुम? क्या तुम इस तोते को जानते हो?"

हरिया रूपी महाराजा हरिश्चन्द्र निश्चय ही नहीं कर पाये कि उनका उत्तर क्या हो। सत्यशीलता की मर्यादानुसार उन्होंने कहा—"महाराज मैं तो चाण्डालदास हूँ, कालदण्ड का सेवक। यह तोता कैसा है? मैं नहीं जानता।"

तभी हड़बड़ाता हुआ तोता उड़कर महाराज के समीप गया। अनुरोधपूर्वक उसने महाराज से निवेदन किया कि वे कृपया यह हत्याकांड रोकें —"पापी और मायावी है यह पण्डित। इसने अपना जाल फैलाया है। जिसे पिशाचिनी कहकर यह इस सभा में मरवा रहा है, वह साधारण स्त्री नहीं, वह पिशाचिनी नहीं, अयोध्या की राजरानी हैं इनका नाम सुतारा है। उसने कहा कि जो वधिक है वे स्वयं महाराजा हरिश्चन्द्र हैं। पति के हाथों हो रही पत्नी की हत्या की यह जघन्य लीला रोकिये महाराज, रोकिये।"

आत्माराम ने कहा—"सुनिये महाराज, काशी में घोर संकट है, महामारी से जनता दुखी है यह सत्य है, किन्तु इसका कारण यह स्त्री नहीं है। इस सती साध्वी की यदि हत्या काशी की राजसभा में हुई तो इस घोर पापाचार के कारण भयकर विपत्तियाँ काशी के राजा-प्रजा पर टूट पड़ेंगी। रानी को बचाना—काशी को बचाना है, महाराज।" महामात्य ने कहा—"हरिया स्वयं यह स्वीकार नहीं कर रहा है महाराज! फिर हम पण्डितजी की क्षमता को, उनकी चमत्कार शक्ति को स्वयं देख चुके हैं। उन्हें मिथ्या मानने का कोई आधार नहीं है। फिर इस तोते के कथन में सत्य मानने का भी तो कोई आधार नहीं है।"

महाराजा चन्द्रशेखर के सम्मुख विकट समस्या थी। वे किसी निष्कर्ष पर पहुँचते इसके पूर्व ही आत्माराम ने उन्हें यह कहकर चौंका दिया कि वह

अपने कथन की सत्यता को प्रमाणित करके दिखायेगा। उसने कहा—इसी समय यहाँ अग्नि प्रज्वलित की जाय। मैं धधकती आग में प्रवेश करूँगा। यदि मैं सत्य कथन नहीं करता हूँ तो जलकर भस्म हो जाऊँगा। मेरा आप विश्वास नहीं करते न! न कीजिये विश्वास यों, पर यह अनर्थ भी नहीं कीजिये। मुझे अपना सत्य सिद्ध करने का अवसर तो दीजिये।"

महाराज काशी नरेश की आज्ञा से तत्काल सारी व्यवस्था की गयी और एक छोटी सी चिता देखते ही देखते प्रज्वलित हो उठी। तोता अपने स्थान से उड़ा और सीधा अग्नि में प्रविष्ट हो गया। चिता जलती रही। ज्वालाएँ उठती रहीं। सूखी लकड़ियाँ चटखती रहीं। धुँआ उठता रहा, चिनगारियाँ उड़ती रहीं और एक बार पुनः राजसभा का कुतूहल चरम उत्कर्ष पर पहुंच गया। धीरे-धीरे अग्नि शान्त हुई। चिता अब दहकते अंगारों की ढ़ेर हो गयी थी। सभी देख रहे थे कि आत्माराम ज्यों का त्यों, सुरक्षित बैठा था। उसने पंख फड़फड़ाए, एक अंगड़ाई सी ली और उड़कर पिंजड़े पर आ बैठा। उपस्थितजन मन्त्र-मुग्ध से देखते रह गये। आत्माराम ने अपना सत्य सिद्ध कर दिखाया था। तभी महामात्य ने निवेदन किया—"महाराज! काशी अत्यन्त आभारी है आत्माराम की। आत्माराम ने एक बार फिर से घोर आपदाओं से काशी की रक्षा करली है। पापी तो यह पण्डित है जो प्रपच करता है, परपीड़ा में आनन्द लेता है वह।"

महाराज ने महामात्य से सहमत होकर आदेश किया—"इस निरीह नारी को मुक्त कर दिया जाय। वध हो इस पण्डित पाखंडी का।" सभी देखने लगे थे कि पण्डित प्रचण्डवाक् है कहाँ। वह तो न जाने कहाँ ओझल हो गया था। महाराजा ने सैनिक दौड़ाये कि उसे पकड़ लिया जाय, पर दूर-दूर तक वह पाया नहीं गया। मायावी लुप्त ही हो गया। स्त्री को बन्धन-मुक्त किया गया। वह तो अचेत थी। जलोपचार से उसे स्वस्थ करने का प्रयत्न किया जाने लगा। सभा विसर्जित हुई। कालदण्ड और हरिया इसके पूर्व ही प्रस्थान कर गये थे। कुछ समय में सुतारा भी सचेत हो गयीं। वे धीमे-धीमे चलती हुई सभाभवन से बाहर हो गयीं।

१०

कालदण्ड अपने दास हरिया की सेवा से सन्तुष्ट था, प्रसन्न था। हरिया के लिए मरघट ही घर था। कब कौन शव दाह को आ जाय—कोई ठीक नहीं रहता। उन्हें तो दिन-रात चौकस रहना होता था। मरघट में आग ही आग रहती। हर समय अनेक चिताएँ जलती रहतीं। उनकी धूनी किन्तु पृथक थी। हर समय अग्नि उसमें रहा करती थी। एक कुटिया हरिया ने घास-फूस बटोरकर बना ली थी। कुटिया के बाहर तनिक ऊँचा सा एक स्थान भी बना लिया था, जहाँ बैठकर वे सारे मरघट पर दृष्टि रख सकते थे। सबेरे गंगा स्नान कर वह मिट्टी का घड़ा भर लाते। दोपहर में मोटी-मोटी दो रोटियाँ सेंक लेते। यही उनका नित्य का भोजन था। वाह! अयोध्या नरेश महाराज हरिश्चन्द्र! वाह रे! सत्यवादिता!!

कुटिया के बाहर अपने निश्चित स्थान पर मशाल जल रही थी। हरिया अभी-अभी एक चक्कर मरघट का लगाकर आये और बैठे सुस्ताने लगे। गंगा से शीतल पवन आ रही थी। हरिया की आँख लग गई। बैठे-बैठे ही पलकें झपक गयीं। वे अधलेटे हो गये। मध्यरात्रि का समय था। सर्वत्र शान्त वातावरण को कभी-कभी शृगाल-ध्वनि आन्दोलित कर देती थी। सहसा हरिया की नींद उचट गयी। उन्होंने कान लगाकर सुना तो धीमा-धीमा स्वर था किसी स्त्री के क्रन्दन का। उन्हें लगा कि इस समय भी कोई शवदाह को आया है। पर यह स्त्री का स्वर कैसा? ध्यान लगा कर सुना—और किसी प्रकार की आहट नहीं थी। बिना समय खोये हरिआ उठे, एक हाथ में लकुटी और दूसरे में मशाल थामे वे उसी दिशा में आगे बढ़ गये जिधर से स्वर आ रहा था।

यह मरघट है—अनेक प्रपंच यहाँ चलते रहते हैं। कहीं कोई श्मशान न जगाता हो। हजारों तरह के तो टोने-टोटके होते रहते हैं, सिद्धि-साधनाएँ

चलती रहती हैं। न हो""कोई ऐसा ही प्रसंग हो—हरिया का चलते-चलते सोचने का क्रम बना रहा। कुछ दूरी से ही उन्हें एक स्त्री बैठी दिखायी दी। वह करुण विलाप कर रही थी। कोई अर्थी न थी, न ही कोई अन्य जन। प्रसंग की असाधारणता भाँप कर हरिया ने समीप पहुँच कर कहा—"बहन क्यों रोती हो""कोई स्वजन नहीं रहा क्या तुम्हारा? संसार तो ऐसा ही चलता है""आना-जाना लगा ही रहता है। जाओ""बहन धीरज धरो और अपने घर लौट जाओ।

स्त्री की रुलाई सहानुभूति पाकर तीव्र हो गयी। उसने कहा—बहन कहा है तो भैया बहन की संकट से रक्षा करो। मेरी समस्या और है। मेरे पति समीपस्थ राज्य के राजकुमार हैं। एक विद्याधरी हम दोनों को अपनी विद्या के बल पर यहाँ उठा लायी है। सामने के वृक्ष की ओर संकेत करते हुए उसने कहा—"कुमार को वहाँ उलटा लटका दिया है उसने। यह होमाग्नि प्रज्वलित कर विद्याधरी गंगा स्नान को गई है। लौटकर आने ही वाली है।"

हरिया ने देखा सूखी ईंधन के एक छोटे से ढेर से हल्का धुआँ उठ रहा था। हरिया ने पूछा—चाहती क्या है यह विद्याधरी? क्यों पीछे पड़ गयी है यह तुम्हारे? राजकुमारी ने एक लम्बी साँस खींचते हुए कहा—"अपनी बात पूरी-पूरी तो वह स्वयं ही जानती होगी, किन्तु ऐसा लगता है कि वह कोई साधना कर रही है। वह अपनी साधना के ही किसी क्रम में मेरे पति की बलि देगी। इस अग्नि में उन्हें होम देगी।"—कहते-कहते राजकुमारी का क्रन्दन और भी उच्च स्वर को प्राप्त हो गया। हरिया का अन्तःकरण दुखित हो उठा। वे राजकुमारी की समस्या को उसकी पूरी गहराई तक समझ गये। बेचारी का जीवन अभी आरम्भ ही हुआ है। विद्याधरी को तो व्यक्ति के स्थान पर व्यक्ति ही चाहिए। राजकुमार का जीवन तो बहुमूल्य है। मेरे जीवन में अब धरा ही क्या है? इससे बढ़कर मेरे जीवन का अन्य क्या सदुपयोग होगा कि राजकुमार के प्राणों की रक्षा हो जाय। बोले—"राजकुमारी अब तुम निश्चिन्त रहो। तुम्हारा कोई अहित नहीं होने का। तुम्हारे पति के स्थान पर मैं विद्याधरी की सेवा करूँगा। तुम्हारा हँसने-खेलने का समय है। जाओ, दोनों सुखी रहो। मैं तुम्हारे पति को मुक्त कर देता हूँ। तुम शीघ्र मरघट से बाहर हो जाना।"

हरिया ने राजकुमार को बन्धन मुक्त किया और उसके स्थान पर

स्वयं लटक गये। राजकुमार की कृपाण उन्होंने अपने पास रख ली। मशाल के प्रकाश में पति-पत्नी वहाँ से चले गये। चारों ओर घना अन्धकार था। अब तक हवन कुण्ड की अग्नि प्रज्वलित हो गई थी। बस उसी का क्षीण सा प्रकाश फैल रहा था। विद्याधरी आयी। उसने राजकुमारी को वहाँ न पाया तो कुछ ठिठक गई। अँधेरे में दूर के वृक्ष पर ध्यान से दृष्टि गड़ायी तो उसे लगा उसका बलि का प्राणी तो अब भी सुरक्षित है। सोचा तब तो उसकी पत्नी भी यहीं कहीं होगी –यह सोचकर विद्याधरी निश्चिन्त हो गयी। उसने अपना क्रम आरम्भ किया। पेड़ पर लटके हरिया ने कृपाण से अपने अंग का मांस काट-काट कर अग्नि में फेंकना आरम्भ कर दिया। मज्जाज्वलन की गन्ध सब ओर प्रसारित होने लगी। इस गन्ध की मादकता से श्मशान का शृगाल-समूह खिचा चला आया। ये शृगाल यहाँ दौड़-धूप, उछल-कूद करने लगे। विद्याधरी के कार्य में व्यवधान आने लगा। दुखी होकर उसने अपने पति विद्याधर का ध्यान किया। तत्काल विद्याधर साक्षात हो गया। उसके प्रयत्नों से भी शृगाल-बाधा रुकी नहीं। हरिया अपने अंग से मांस काटकर अग्नि में फेंकते रहे। तीव्र गन्ध से वातावरण भर उठा। समीपस्थ तपोवन के ऋषियों को इस गन्ध से किसी अनहोनी घटना की आशंका हुई। वे खोजते हुए इस स्थल पर पहुँचे। इसके साथ ही विद्याधर और विद्याधरी तो त्रस्त होकर भाग खड़े हुए। उन्होंने वृक्ष पर अर्द्धचेतनावस्था में हरिया को पाया तो उनके मन में करुणा उद्वेलित हो उठी। उन्होंने हरिया को बन्धन मुक्त कर नीचे उतारा तो पाया कि क्षीण सी चेतना शेष थी। प्राण मुक्त होने को थे। परोपकारी ऋषियों ने अपने तपोबल का उपयोग किया, वन्य औषधियों का प्रयोग किया और परिणामतः हरिया स्वस्थ हो गया।

स्वस्थ होकर हरिया को कोई विशेष प्रसन्नता या सन्तोष नहीं था। हरिया द्वारा ऋषियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित की गई। आशीष देते हुए ऋषिगण विदा हुए। हरिया सोचने लगे—अभी भी न जाने क्या-क्या और भोगना-देखना शेष है। यह जीवन-लीला यहीं समाप्त हो गयी होती तो भला ही था।

११

मरघटी वातावरण में हरिया की भावुकता का विघटन होता जा रहा था। भावनात्मक प्रवृत्ति मानव चेतना की मूलभूत पहचान होती है। हरिया में इसी का ह्रास होता जा रहा था। नित्य कितने शवदाह होते थे। किसी वृद्ध अशक्त दम्पत्ति का एकमात्र आश्रय—इकलौता बेटा मर गया जिसकी सुन्दरी युवा पत्नी और नन्हे बच्चे थे। कभी छोटे-छोटे बच्चों की विधवा माँ का देहावसान हो जाता, कभी नवविवाहिता के वर का देहांत हो जाता, तो कभी नौजवानों का अकाल निधन। कोई डूबने से तो कोई जल जाने से मर जाता तो कोई भीषण रोग से चट-पट हो जाता। किसी के पास शवदाह का खर्च भी नहीं होता, तो कोई अपार सम्पदा यहीं छोड़ कर रिक्त हस्त चल देता। जीवन लीला की समाप्ति की ऐसी-ऐसी कारुणिक स्थितियाँ वह देख चुका कि अब उसके लिए किसी प्रसंग में कोई दिल हिला देने वाली बात नहीं लगती। मरने वाला मर गया, फूँकने वाले मुर्दा मसान में उठा लाये। जला-अधजला छोड़कर सभी को अपने-अपने कामों पर लौट जाना है। उन्हें यह उतावली है, तो हरिया को कर वसूलने की। उन्हें कोई वास्ता नहीं कि कौन मरा, कैसे मरा? उन्हें तो मृत्यु-चीर चाहिए, आधा ईंधन चाहिए—वह भी जल्दी से जल्दी। पहले उसे यह मिल जाय फिर शवयात्री जो करना है, करते रहें। उसकी तो जान छूटे। हरिया का रवैया धीरे-धीरे ऐसा ही हो गया। उसे दिन भर में कितनी ही अर्थियाँ निपटानी होती थीं। किस-किस का ध्यान करे'''किस-किस के साथ जिये-मरे। उसका किसी के साथ क्या सरोकार। उसे अपने काम से प्रयोजन है।

अर्थी का भूमि पर रखना होता कि वह मृत्यु-चीर की माँग करने लगता। लोग कहते—तुम तो सिर पर ही सवार होते जा रहे हो'''रुको

भाई रुको, क्या बरखा आ रही है—देते हैं, देते हैं""वह भी सब कुछ मिलेगा तुम्हें कुछ तसल्ली तो रखो—इन लोगों का यही रहता है, सोचते ही नहीं कि बेचारा कौन कैसे ऊपर चला गया, इन्हें तो अपनी वसूली से मतलब है—ऐसी-ऐसी कई वचनावलियाँ सुनते-सुनते हरिया तो अघा गये थे। उन्हें अब किसी भी ऐसी बात का कोई बुरा भी नहीं लगता। भावशून्यता की ऐसी परिधि उनके आस-पास घिर कर ऐसी ठोस हो गयी थी कि उसे भेद कर किसी भावना का उनके पास पहुंचना असंभव होता जा रहा था। कर देने को नहीं है तो अपना मुर्दा यहां फूंक नहीं पाओगे—गंगा में बहा दो, अथवा जंगल में फेंक दो। हमारे पास कोई दया-ममता इसके लिए नहीं धरी है। हम कर्त्तव्य को पालें कि इस दया-ममता को लिये बैठे रहें। न दया से पेट भरता है, न ममता से। चाकरी तो करनी ही होती है। चाकरी ही तो दो रोटी देती है। इस चाकरी के चोर हम न हो सकेंगे। हम तो कर वसूलेंगे, तभी मुर्दा फूंकने देंगे। एक बार कहें तो यह बात है—सौ बार भी कहें तो भी बात यही रहेगी। हरिया इसी प्रकार बड़बड़ाते रहते। पाषाण हृदय से हो गये थे हरिया जी, कालदण्ड के चाकर जो थे।

कालदण्ड का सन्तोष समय के साथ-साथ बढ़ता गया और हरिया पर उसका पूरा और पक्का विश्वास हो गया था। हरिया की लगन, निष्ठा और परिश्रम का ही यह फल था कि मरघट की आय दुगुनी से भी अधिक हो गयी थी। कालदण्ड अब हरिया को अपना दास नहीं, भाई मानता था, वैसा ही व्यवहार देता था, वैसा ही स्नेह करता रहा। अब वह स्वयं तो कभी-कभार ही मरघट की ओर जाया करता था। सोचता था हरिया का वहाँ होना मेरा ही होना है।

हरिया का रहन-सहन भी अब उनके काम-काज के अनुरूप हो गया था। दाढ़ी-मूंछें और लम्बे केश। घुटनों तक की खिंची हुई धोती। ऊपर का तन निर्वस्त्र। सिर पर क्षीण सी वस्त्र की पट्टी। पाँवों में मोटे-मोटे, भारी जूते और हाथ में एक भारी, मजबूत लट्ठ। बड़ा अद्भुत और कठोर व्यक्तित्व विकसित हो गया था—हरिया का। अर्द्ध रात्रि तक जागते रहना उनका नित्य का नियम था। इसके पश्चात् प्रायः मरघट का शुष्क समय रहा करता था जो प्रातः बड़ी देरी तक चला करता था। पिछली रात्रि में ही हरिया सोया करते। कर्त्तव्यपरायणता और निष्ठा के कारण वे अपने स्वामी की दृष्टि में उन्नत होते चले जा रहे थे। चाण्डाल-दास के रूप में जन-सामान्य चाहे उनका आदर नहीं भी कर पाता, परन्तु उन्हें इस स्थिति से

भी कोई चिढ़ नहीं थी। इसी कारण तो वे अपनी सत्यवादिता का, वचन पालन का निर्वाह कर पाये थे। धर्मपालन में सहायक तत्व स्वयं भी धर्मवत् ही हो जाता है। उसकी महत्ता कभी कम नहीं हो सकती, चाहे वह अपने आप में कितना ही हीन व तुच्छ ही क्यों न हो।

हरिया सूर्यास्त समय गंगा तट पर पहुँच गये। डूबते अरुण सूर्य को देखकर उनके मन में कुछ अद्‌भुत विचार उठ रहे थे। सत्य से विचलित न होने का संकल्प तो वे मन ही मन दोहरा ही रहे थे। आज दोपहर से ही उनका जी कुछ उचाट था। रानी सुतारा और कुमार रोहिताश्व के विषय में अनेक विचार पानी के बुलबुलों की भाँति उठते और विलीन होते जा रहे थे। रोहित के संबंध में जाने क्यों अमंगल विचार उभर रहे थे। इस मन की भी कुछ अद्‌भुत ही गति है। अपने स्नेहियों के भले-बुरे का उसे पूर्वाभास हो जाता है। यह सोचकर तो उनके चित्त में एक उद्विग्नता और अशान्ति उत्पन्न हो गयी। क्या हो गया""क्या हो गया मेरे रोहित को""। रोहित मेरा प्यारा रोहित""उसे कुछ नहीं होने का—हरिया ने सोचा और उनका मस्तक स्वतः ही झकझोर उठा। मानो अशुभ विचारों को झाड़ दिया जा रहा हो। बलपूर्वक उसने शुभ को अपने भीतर स्थापित किया था। इसके पश्चात् नित्य की भाँति उन्होंने रोटी सेंक लेनी चाही। वे कुटिया में गये भी थे, किन्तु मन नहीं किया। बाहर आकर बबूल के नीचे बैठकर वे दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाने लगे। निरुद्देश्य ही वह जाने क्या-क्या देखते रहे। इसी तरह संध्या हो आयी थी। तीन चिताओं का ईंधन अभी वहीं पड़ा था। उठाकर लकड़ियों को एक ओर कर लिया। सारे श्मशान क्षेत्र में एक चक्कर लगाकर भी उन्हें संतोष न हुआ। मन जब चंचल होता है तो तन भी स्थिर नहीं रह पाता। वे टहलते रहे।

अमावस्या की घनी अँधियारी रात्रि थी। श्मशान में वह अधिक भयानक हो उठती है। अंधेरे में जब नेत्रों को कुछ दिखाई नहीं देता तो मन को अनेक चित्र दिखाई देने लगते हैं। व्यतीत अतीत साकार होकर पुनः मानो अभिनीत होने लगा था। असहाय, निरुपाय हरिया देखते, दुखित होते रहे—और कोई चारा भी नहीं था। वे अपनी कल्पनाओं में यों खोये हुए कुटिया के बाहर उच्च स्थल पर बैठे हुए थे कि सहसा करुणाजनक क्रन्दन ने उनको चौंका दिया। आज फिर किसी नारी का रुदन था यह। श्मशान प्रहरी, चाण्डालदास हरिया को उठना ही था। एक दीर्घ निःश्वास

छोड़कर वे उठे, अपने आप से बोले—"चल भाई हरिया, चल। मृत्यु-चीर ले आवें।" और वे मशाल तथा लकुटी लेकर उस दिशा में चल दिये, जिधर से स्वर आ रहा था। कुछ दूरी पर उन्होंने देखा कि एक स्त्री रोती कल-पती चली आ रही है। उसके केश बिखर रहे हैं, आँखें आँसू प्रवाहित कर रही हैं और उसके हाथों पर एक मृत बालक है। प्रतिदिन इतने शव देखने वाले हरिया ने आज पहली बार चीरहीन शव देखा था। मृत्यु-चीर तो आवश्यक रहता ही है। अब नारी-स्वर स्पष्ट भी हो गया था। वह बेचारी अभागी, दुखिया माता अपने पुत्र के मरण पर कारुणिक विलाप कर रही थी—"हाय मेरा प्यारा बेटा, तू कहाँ चला गया रे। मेरा एक अकेला सहारा था, आँखों का तारा था—बेसहारा छोड़ गया अपनी माँ को···· हाय ! मेरे लाड़ले को अयोध्या का राजा बनना था····कितनी पीड़ा सही···· कैसे-कैसे दुःख झेले और चल बसा। पिता को तो पता भी नहीं होगा, बेटे कि तू अब रहा ही नहीं। हाय मैं क्या करूँ·····।

हरिया को समझते विलम्ब न हुआ। उनका प्यारा कुमार रोहित चल बसा। उनके हाथ-पाँव ढीले हो गये। अपनी प्रेयसी को पहचान कर वे आगे बढ़े। प्रियतमे तुम मिलीं भी तो ऐसी दशा में। मैं अभागा मर भी तो नहीं जाता····कहते हुए हरिया मूर्च्छित होकर गिर पड़े। अब तक सुतारा रोहित का शव गोदी में लिए भूमि पर बैठ गयी थी। पति की यह दशा देखकर वह भी मूर्च्छित हो गयी। बड़ी देर बाद जब दोनों को चेत हुआ, वे शोक सागर में डूब गये।

"प्रिये ! सत्य की डगर बड़ी विकट है, किन्तु मैं विचलित नहीं होऊंगा, डिगूंगा नहीं मैं अपने पथ से। कठिन से कठिनतर परीक्षाएँ रही हैं, मैं पार करता जा रहा हूँ, किन्तु इस बेचारे रोहित से किसी का क्या बैर ? क्या हो गया, रानी इसे····" ठंडी सांस छोड़कर महाराज ने पूछा।

उत्तर में एक दीर्घ स्वास छोड़ते हुए रानी सुतारा ने कहा—"पंडित जी की पूजा के लिए सबेरे फूल चुन रहा था कि सर्प ने डंस लिया। मेरे लाडले ने तड़प-तड़प कर प्राण त्याग दिये। हाय विधाता !! इसके स्थान पर मुझे ही उठा लेता····मैं अभागिन अब क्या देखने को बच गयी हूँ।" महाराज हरिश्चन्द्र ने ढाढ़स बँधाते हुए कहा—"रानी ! दैव के आगे किसी का वश नहीं चलता। अब धीरज ही रखना होगा। हमारे भाग्य में नहीं था

इसका साथ—छोड़कर चला गया। दैव भी दुखियों को और अधिक दुखित करते हैं।"

"ठीक कहते हैं स्वामी आप!" रानी सुतारा ने कहा—"धीरज ही सभी संकटों में उत्तम साथी होता है। जो धीरज को हाथ से जाने नहीं देता, वही दुर्दैव को परास्त कर पाता है, किन्तु महाराज! कोई कैसे धीरज रखे, कब तक रखे? विपत्तियों का तो अन्त ही नहीं आता।"

महाराज ने उद्‌बोधित करते हुए कहा—"रानी! यही तो दुनिया है। तुम्हारे-हमारे भाग्य में यह भी लिखा था कि अपनी सन्तति को अपने हाथों....।" रानी सुतारा ने रुलाई के स्वर में कहा—"अब स्वामी इसका अंतिम संस्कार तो करना ही होगा। कुछ...." रानी सुतारा की बात बीच में ही काटते हुए महाराज ने कहा—"यहाँ मैं स्वामी नहीं हूँ....मैं तो चाण्डालदास हूँ, इस मरघट का प्रहरी, हरिया मेरा नाम है। मैं न हरिश्चन्द्र हूँ, न तुम्हारा पति, न रोहित का पिता, मैं यहाँ चाण्डाल का प्रतिनिधि प्रहरी मात्र हूँ। मुर्दा फूँकने को तुम आयी हो। मैं आधा मृत्यु-चीर लेकर तुम्हें इसकी अनुमति दूँगा। यही मेरा प्रदत्त कर्तव्य है।

"किन्तु स्वामी, मैं चीर कहाँ से लाऊँ? आप भी तो मृतक के पिता हैं—इतना विचार आप भी कीजिए।" रानी ने कहा। किन्तु हरिया तो कर्त्तव्यनिष्ठ थे। यही इनका धर्म था—यही सत्य था। कर लेकर ही दाह संस्कार करने देना यह अटल नियम था। "कर्त्तव्य, कर्त्तव्य ही होता है—इसके मार्ग में सोच-विचार करने की स्थिति नहीं आती। सोचना क्या है? क्या मुझे अपना कार्य नहीं करना। मरघट में दाह करना है तो आधा चीर मुझे लेना ही है। इसके बिना धाम न होगा। मैं मृतक का पिता नहीं मरघट के स्वामी का चाकर हूँ, उसकी व्यवस्था निभाऊंगा।"

"मैं भी तो क्रीत दासी हूँ पंडित की। मेरे पास वस्त्र के नाम पर इस पुरानी जीर्ण साड़ी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।" रानी सुतारा ने कहा—"कहाँ से आयेगा चीर? पंडित ने तो मृत्यु पर सहानुभूति के दो बोल भी नहीं बोले। शव को यों कैसे लाती, रोती रही, रात्रि की प्रतीक्षा करती रही। बिना मृत्यु-चीर के अब अंधेरे में लायी हूँ।"

इसी समय कालदण्ड श्मशान में आ पहुँचा। दूर से वह 'हरिया-हरिया' कह कर पुकारता रहा। स्वामी का स्वर सुनकर हरिया और भी कठोर हो गया, बोला—"कोई भी अन्य युक्ति नहीं है। चीर देने को नहीं तो

शव जला नहीं पाओगी। तुम्हारे पास साड़ी तो है। मृत्युचीर के लिए आधी साड़ी ही फाड़कर दे दो और पुत्र का दाह सस्कार कर लो।" हरिया ने हृदय को कठोर बनाते हुए कहा। आधी साड़ी से लज्जा बचाना बड़ा कठिन है—यह हरिया भी जानते थे; किन्तु इस प्राप्ति के बिना वह अनुमति भी नहीं दे सकता। कितनी कठिन परीक्षा की घड़ी थी। विवश रानी बेचारी क्या करती ? उसने अपनी आधी साड़ी को फाड़ना आरम्भ किया— इसी समय इस वन-खण्ड में दिव्य आलोक फैल गया। आकाश से पुष्प वर्षा होने लगी। महाराजा हरिश्चन्द्र की जय-जयकार होने लगी और दुंदुभियाँ बज उठीं। देवगण पृथ्वी तल पर उतर आये। कालदण्ड भी देव रूप में परिणत हो गया। सभी देव अतिशय हर्षित थे। जय-जयकार के साथ उन्होंने तीनों की प्रदक्षिणा की। एक देव बोले—"धन्य हो ! महाराजा हरिश्चन्द्र ! सत्य की सबसे बड़ी परीक्षा में भी आप खरे सिद्ध हुए हैं। धन्य हैं आप और धन्य है आपका सत्य व्रत। सृष्टि में आपके समान कोई सत्यव्रती न हुआ और न होगा। आपका यश सार्वलौकिक और सार्वकालिक रहेगा—अमिट रहेगा। आप निस्सन्देह सत्यावतार ही हैं।"

एक अन्य देव ने कहा—"जब तक सृष्टि रहेगी—ये सूर्य-चन्द्र जब तक रहेंगे राजन आपकी सत्यवादी महत्ता तब तक अक्षुण्ण बनी रहेगी, शाश्वत रहेगी। आपके चरित में सत्य और सत्य में आपका चरित माना जायेगा। महाराज आप और सत्य दोनों परस्पर पर्याय हो गये हैं। आपकी जय-जयकार जितनी की जाय उतनी ही कम है।"

हरिया ने पाया कि वे तो वही महाराजा हरिश्चन्द्र हो गये हैं। रानी सुतारा भी वैसी ही हो गयीं। वही वेश, वही रूप। राजकुमार रोहित पुनर्जीवित हो क्रीड़ा-मग्न था। देवों ने बहु भाँति स्तुति कर इनकी आरती उतारी और नमन-वन्दन किया।

तभी एक अन्य देव ने कहा—सत्यवादी महाराज आपकी प्रशस्ति सभी लोकों में की जाती है। देवलोक में स्वयं देवेन्द्र ने जब आपका यशगान किया, आपको अडिग वचन पालक और अद्भुत सत्यवादी कहा तो हम कुछ देवों को विश्वास न हुआ था। हमने मर्त्य लोक में आकर आपकी परीक्षा ली, आप प्रत्येक परख में खरे प्रमाणित हुए राजन् ! हमने शूकर प्रसंग रचा, हम ही आचार्य, अंगारमुखादि थे। हमने ही वंचना, हरिणी आदि और कालदण्ड, पंडित महाशय के प्रकरण रचे। पं० प्रचण्डवाक् भी हमी में से

एक थे। हमें खेद है राजन् कि हमारी परीक्षा प्रक्रिया में आपको अनेकशः कष्ट उठाने पड़े हैं। कृपया इसे स्वप्न के समान ही भूल जाइये।"

एक देव ने कहा, "राजन् ! हम आप से अत्यन्त ही अत्यन्त प्रसन्न हैं। कृपया हमारी एक अभिलाषा पूर्ण कर दें।"

"आज्ञा करें देव !"—महाराज ने विनयपूर्वक कहा। "यदि मैं आपके लिए कुछ कर सका तो यह मेरा अहोभाग्य होगा। कहिये, मैं क्या कर सकता हूँ, देव।"

"हम सभी की एक ही सम्मिलित इच्छा है राजन् !"—देव ने कहा —"कि आप कोई मनचाहा वरदान मांगें।"

"देवगण ! यह आपकी महती कृपा है मुझ पर कि आप मुझे देना चाहते हैं, किन्तु सत्य यह है कि हम क्षत्रिय हैं और क्षत्रियोचित मर्यादा के अनुसार हम किसी से कुछ भी माँग नहीं सकते हैं। हम कोई दान स्वीकार नहीं करते, देव ! मैं क्षमा चाहता हूँ।" महाराज ने फिर से सविनय कहा।

"किन्तु राजन् ! यह यथार्थ है कि देवों का दर्शन मिथ्या नहीं जाता। उससे कुछ प्राप्ति हो जाती है, अवश्य ही कुछ मिलता है और वह स्वीकार भी किया जाता है। आप कुछ ग्रहण नहीं करना चाहते तो हमें कुछ दे तो सकते ही हैं। वचन दीजिये कि हमें, जो हम मांगेंगे आप देंगे।" एक देव ने युक्तिपूर्वक कहा।

प्रसन्नता के साथ तब महाराज हरिश्चन्द्र ने कहा—"मैं वचन देता हूँ, आपकी मांग पूरी करूंगा।" और अवसर न चूकते हुए त्वरा के साथ देव ने मांग की कि, "राजन् ! तो फिर हमारी मनोकामना पूरी कीजिये और कुछ मांग लीजिये।"

देव ने बड़े कौशल के साथ वरदान के लिए राजा को विवश कर दिया था। वे अपने वचन से पीछे कभी हटते न थे। देवों की चतुराई पर प्रसन्नतापूर्वक मुस्कराते हुए महाराज ने कहा—"अब तो मुझे कुछ मांगना ही होगा। देव ! मैं भी आपसे एक वचन मांगता हूँ कि भविष्य में आप सत्यवादियों की इतनी कठोर परीक्षा न लिया करें। परीक्षा का प्रयोजन तो सत्यवादी को सत्यार्थ उत्साहित करना होना चाहिए। यदि सत्य से उसकी आस्था ही हट जाय तो परीक्षा स्वयं ही असफल हो जाती है देव !"

देव ने राजा के कथन में औचित्य स्वीकार करते हुए कहा—"राजन् !

वास्तविकता यह भी है कि आप जैसा सत्यवादी अब होगा ही नहीं—परीक्षा का अवसर है ही कहाँ ! भावी सत्यवादियों के समक्ष आपके सत्याचरण का आदर्श रहेगा।" इसी समय एक अद्भुत परिवर्तन हुआ। सारे क्षेत्र में फिर से घना अन्धकार छा गया। देवगण के साथ वह दिव्यालोक भी विसर्जित हो गया था और कुछ ही क्षणोपरान्त जैसे साधारण प्रकाश में नेत्र खुले। अयोध्या के राजप्रासाद में उन्होंने अपने आपको पाया। सब कुछ यथावत था। महामात्य वसुभूति और सेवक कुन्तल भी वहाँ महाराज की सेवा में उपस्थित थे। सब का सब ज्यों का त्यों—नित्य की भाँति था। पिछली अपने साथ घटित घटनाओं का प्रभाव भी केवल महाराज स्वयं ही अकेले अनुभव कर रहे थे। रानी, राजकुमार, महामात्य, कुन्तल अथवा अन्य किसी के साथ इस प्रभाव का चिन्ह भी नहीं था। सरयू पार भी महाराज स्वयं गये। वहाँ कोई ऋष्याश्रम नहीं था। महाराज को लगा जैसे वे गहरी नींद से उठे हों और इस बीच उन्होंने कोई स्वप्न देखा हो।

१२

अति प्राचीन ऐतिहासिक युग की चर्चा है कि अमरसेन नाम का एक अत्यन्त न्यायशील एवं धर्मप्रिय नरेश अमरावती नामक राज्य में शासन करता था। प्रजा-राजा का सम्बन्ध तो ऐसा ही रहा करता था, जैसा पिता-पुत्रों का होता है। नर-नाथ अपनी प्रजा के प्रति अत्यन्त स्नेहपूर्ण भाव रखते थे। प्रजा भी राजा का पितृवत आदर करती थी। धर्म-भावना का आधिक्य इस राज्य में सुख-शान्ति का मूल आधार बना रहता था। रानो भी बड़ी वात्सल्यवती थी। राज्य के नामानुसार रानी का नाम भी संयोग-वशात अमरावती ही था।

प्रातःकाल का सुहाना समय था। अमरावती का राजप्रासाद भास्कर सूर्यदेव की स्वर्णिम रश्मियों में जगमगा उठा था, मानो धरती का स्वर्ण करीट दमक रहा हो। रमणीय उद्यान मध्य स्थित यह प्रासाद अति उच्च, अति सुन्दर था। शिखरों पर स्वर्ण कलश और पताकाएँ शोभित थीं। महारानी अमरावती स्नानादि से निवृत्त हो, शृंगारित हो, राजभवन के झरोखे से झाँक रही थी, निहार रही थी उद्यान की शोभा। लगता था मानो स्वर्ण चौखट में अनुपम सुन्दरी का चित्र जड़ा हो। शीतल, मन्द, समीर अपने कोमल स्पर्श से रानी के मन को उत्फुल्ल कर रहा था, एक अकथ अनुभूति दे रहा था। उस मादक पवन के प्रभाव से रानी अमरावती प्रमत्त हो उठी थी। इस बसन्ती प्रभात में वह अर्द्धनियीलित नेत्रों से ही दूर-दूर तक की प्राकृतिक शोभा को निहार लेना चाहती थी। पलाश के फूले सिन्दूरी तरु समूह मानों दहकते अगारों की तरह उसके मानस को कामभाव का ताप देने लगे।

इसी समय रानी की दृष्टि दो तरुण यतियों पर पड़ी। ये तपस्यारत सन्त पारणा के लिए नगर भ्रमण पर निकले थे। ब्रह्मचर्य व्रतधारी ये यति

जब प्रासाद के समीप पहुँचे, मुग्धा रानी ने दासी को भेजकर सन्तों को बुलवा लिया। ये जब प्रासाद तले पहुँचे, एक अन्य दासी एक सन्त के पास पहुँची और उनसे ऊपर चले आने का अनुरोध करने लगी। अपेक्षाकृत ये साधु गौरवर्णी थे। ये ऊपर पहुँच गये। साथी नीचे ठहर कर प्रतीक्षा करते रहे। दासी उन्हें एक सज्जित कक्ष में छोड़कर चली गई। भीतरी कक्ष से रानी निकल कर आयी और यति के रूप यौवन की प्रशंसा करने लगी। उसका तन-मन यति के प्रति समर्पित हो गया था। रानी ने इन ब्रह्मचारी यति से भोग याचना की। यति अपूर्व संकट में ग्रस्त थे। उन्होंने मानसिक सन्तुलन नहीं बिगड़ने दिया। कोमल किन्तु सुदृढ़ शब्दों में उन्होंने रानी को प्रबोधन दिया। उसके भावों को अनुचित बताते हुए कहा—हमारे प्रति अनुरक्ति तुम्हारे लिए महापाप है। मैं तो तुम्हारे लिए पुत्रवत हूँ। अपने मन पर नियन्त्रण करो—यह पाप भावना त्यागो, सन्मार्ग ग्रहण करो।

रानी ने अपने प्रभुत्व का भय दिखाते हुए चुनौती दी कि यदि यति ने उसका प्रस्ताव नहीं माना तो वह उन्हें कहीं का नहीं छोड़ेगी, उनका सर्वनाश कर देगी। यति के भयभीत होने अथवा चंचल हो जाने का कोई प्रश्न ही नहीं था। तब अपमानित नारी ने अपनी असफलता का प्रतिशोध लेने की ठान ली। अपने केश खोलकर उसने बिखेर लिए, वस्त्र अस्त-व्यस्त कर लिए, आभूषण गिरा लिये और शोर कर दिया—बचाओ""बचाओ यह लम्पट""बचाओ""कोई बचाओ !!

दास-दासियाँ दौड़ पड़ीं, रानियाँ एकत्र हो गयीं। रानी अमरावती रो-रोकर अपना दुखड़ा सुनाने लगी। यति की बड़ी दुर्गति थी। वे किंकर्तव्य-विमूढ़ से खड़े रह गये। नीचे प्रतीक्षा कर रहे दूसरे मुनि कुछ समझ न पाये कि अपद क्या है ? वे भी ऊपर आ खड़े हुए। नरेश अमरसेन पहुँचे, जो कुछ सुना, सकते में आ गये। भोले भाले साधु—ये भी ऐसा कर सकते हैं। क्रुद्ध नरेश ने दोनों यतियों को बन्दीगृह में डाल दिया।

राजा अमरसेन ने साधुओं को दण्ड तो दे दिया, किन्तु उसका धर्मानुरागी मन सहजतः मान नहीं पाया कि साधुजन ऐसा भी कर सकते हैं। कोई षड्यन्त्र भी हो सकता है। कई रात्रियाँ राजा ने बन्दीगृह में साधुओं की कोठरी के समीप वाली कोठरी में बिता दीं। एक रात्रि को उसने दोनों साधुओं को चर्चा करते हुए सुना। दूसरे यति तो जानते ही न थे कि किस कारण उन्हें बन्दी बनाया गया था। जिज्ञासावश उन्होंने पहले साधु से

पूछ लिया। बहुत संक्षेप में, किन्तु पूर्णतः सत्य रूप में पहले साधु ने सारी बात सुना दी। राजा ने सुना तो उसके कान खड़े हो गये। उसने यतियों का अपमान किया, उनके तन-मन को व्यर्थ ही में पीड़ा पहुँचाई। उसे भारी अनुत्ताप हुआ। प्रकट होकर राजा अमरसेन ने साधुओं से क्षमा याचना की और उन्हें तत्काल कारामुक्त कराया। करुणावतार ही थे मुनिद्वय तो। पश्चात्ताप करते नरेश को उन्होंने क्षमा दान किया। राजा को तत्काल तो क्षमा मिल जाने से कुछ शान्ति हुई, किन्तु कर्मबन्ध तो बँध ही गया था।

× × × ×

महाराजा हरिश्चन्द्र अयोध्या को सुशासन देते रहे। माह वर्षों और वर्ष युगों में बदलते रहे। राजदम्पति ढलती आयु में प्रवेश करने लगे थे। युवराज रोहिताश्व सर्व प्रकार से योग्य एवं सक्षम हो गये थे। अयोध्या में उन्हीं दिनों एक निर्ग्रन्थ मुनि का पदार्पण हुआ। देशना से लाभान्वित होने को महाराज भी पहुँचे। उसी अवसर पर उन्होंने पूज्य मुनिश्री के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की कि मुझे नाना भाँति की बाधाओं का सामना भी करना पड़ा पर मैं सत्याचरण से विचलित नहीं हुआ। मेरे पूर्वजन्म के ऐसे कौन से कर्म रहे जिनके परिणामस्वरूप इस भव में इतने कष्ट भोगने पड़े, इतनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियाँ बनीं कि चाण्डाल के घर सेवा करनी पड़ी, पत्नी का विक्रय करना पड़ा।

मुनिश्री ने इसी प्रश्न में राजा अमरसेन और रानी अमरावती की कहानी सुनायी और महाराजा हरिश्चन्द्र से कहा—राजन! अपने पूर्वभव में तुम ही अमरसेन थे। उस जन्म की अमरावती ही इस भव में फिर से तुम्हारी रानी सुतारा बनी। मुनियों को तुमने जो कष्ट अपने पूर्वभव में दिया था, अपने उसी कृत्य के फलस्वरूप तुम्हें इस भव में कष्ट भोगने पड़े।

मुनिश्री से पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर महाराजा हरिश्चन्द्र के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने राज्याधिकार युवराज रोहिताश्व को सौंप दिये। स्वयं ने रानी सुतारा के साथ श्रामणी दीक्षा ग्रहण कर ली। दोनों ने प्रचण्ड तप द्वारा कैवल्य और अन्ततः निर्वाण प्राप्त किया।

॥ इतिश्री ॥

इस पुस्तक के कतिपय विचार और सूक्तियाँ

+ सच्चा सहायक दीनों की सहायता विनयपूर्वक ही करता है और फिर भूल जाता है। अहं अथवा उपकार का प्रदर्शन तो सारे सुकृत्य को ही नष्ट कर देता है।
+ जन-जन की निर्भीकता शासक के सामर्थ्य की सूचक है और आतंक चाहे किसी का भी हो, उससे अपयश शासक का ही होता है।
+ जिसके वचन निरर्थक हो जाते हैं—उसका जीवन अकारथ रह जाता है। उसके समस्त पुण्य-तरु सूखकर निष्फल हो जाते हैं।
+ अबोधता गुरुजनों के लिए सदा उपेक्षा और क्षमा का विषय रही है। क्षमा से गुरुजनों का गुरुत्व बढ़ता और रोष से घटता है।
+ विनय में हृदय परिवर्तन की अद्भुत क्षमता होती है। विनयशील व्यक्ति अपने घोर शत्रु को भी अपना हितकामी बना लेता है।
+ मनुष्य ही अपने सत्कर्मों से, अपने आदर्शों से देवत्व प्राप्त कर लेता है।
+ सच्चा सुख ऐश्वर्य और सुख-साधनों के अम्बार में नहीं होता। प्रसन्नता तो निश्चिन्त मन की उपज होती है।
+ मात्र धर्म ही नित्य है, शाश्वत और चिरन्तन है। इस अनश्वर धर्म की संगति ही सदा-सदा बनी रहती है। धर्म को बचा लिया तो सार-सार बचा लिया और शेष सर्वस्व को भी जाने दिया तो मानो भूसा-तुस को उड़ जाने दिया।
+ अपने आन्तरिक विचारों का बाहरी अनुमोदन पाकर व्यक्ति का संतोष और सुख स्वाभाविक ही है।
+ दृढ़ प्रेरणा आतंक की सारी बेड़ियां तोड़कर मनुष्य को मनोनुकूल कर गुजरने की क्षमता दे देती है। वह बाहरी परिस्थितियों का भय त्याग कर अन्तःकरण के मार्ग पर साहसपूर्वक चल पड़ता है।

+ अपना कर्तव्य पूरा करते रहने में ही सच्चा आनन्द है। इसी में सारे अभाव डूबकर सच्चा आनन्द हो उठते हैं।

+ अज्ञान ही सुख अथवा दुःख का मूल है। सच्चा ज्ञान व विवेक सुख-दुःख के भ्रमजाल से मुक्त कर व्यक्ति को सच्चे आनन्द की ओर अग्रसर करता है।

+ भावुकता त्यागकर युग की माँग के अनुरूप आचरण करना ही चाहिए। तभी हमें सफलता भी मिलती है और युग का साधुवाद भी मिलता है।

+ पारस्परिक स्नेह के निर्वाह के लिए सामीप्य अनिवार्य नहीं होता। पारस्परिक हित-कामना, त्याग और उत्सर्ग का भाव पुनर्मिलन की उत्कंठा—यही सब कुछ आनन्दप्रद हो जाता है, स्नेह को दृढ़तर कर जाता है।

+ वियोग प्रेम का अन्त नहीं है। यह तो दृढ़तर प्रेम का प्रवेश-द्वार है।

+ विपत्ति के समय स्नेहियों के आश्रय में जाने से महिमा घटती है। अपने संकट का सामना स्वयं करने वालों की गरिमा बढ़ जाती है।

+ संकट की अतिशयता सारे संकोच का मोचन कर देती है। व्यक्ति को मात्र अपना प्रयोजन ही सुझाई देने लगता है।

+ शुभ लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता देने वाला मार्ग अन्ततः स्वयं भी शुभ ही हो जाता है—चाहे वह कैसा भी रहा है।

+ अमंगल विचारों की पूर्ति में असफलताएँ ही हाथ लगती हैं। और मंगल कार्य सहस्रों बाधाओं को पार करके भी अन्ततः सफल हो ही जाते हैं।

+ जब तक बाँस रहेगा, बाँसुरी बजती ही रहेगी। बुरा फल न चाहने वाले बुराई की लता को ही निर्मूल कर देते हैं।

+ धर्मपालन में सहायक तत्व भी धर्मवत ही हो जाता है, उसकी महत्ता कभी कम नहीं हो सकती—चाहे वह अपने आप में कितना ही हीन व तुच्छ ही क्यों न हो।

+ धीरज ही सभी संकटों में उत्तम साथी होता है। जो धीरज को हाथ से जाने नहीं देता, वही दुर्दैव को परास्त कर पाता है।

* हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन *

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज का साहित्य

भगवान महावीर : एक अनुशीलन
जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा
जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण
जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप
ऋषभदेव : एक परिशीलन (द्वि. स.)
कल्पसूत्र बोधपूर्ण विवेचन (च. स.)
भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी-श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन
भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन
धर्म दर्शन : मनन और मूल्यांकन
अपराजिता
सद्धा परम दुल्लहा
अप्पा सो परमप्पा
धर्म चक्र
सत्य शिवम्
जलते दीप
चिन्तन के विविध आयाम
पानी में मीन पियासी
जैन कथा साहित्य की विकास यात्रा
कदम-कदम पर पदम खिले
मुक्तिपथ
सत्यमेव जयते
धीरज के मीठे फल
अतीत के उज्ज्वल चरित्र
बोलती चित्र
महकते फूल
जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य
श्रुत व संयम के संगम : प्रज्ञाप्रदीप
श्री पुष्कर मुनिजी म. व्यक्तित्व एवं कृतित्व
नौका और नाविक
भ. महावीर युग की प्रतिनिधि कथाएं
बूंद में समाया सागर
प्रेरणा की लहरें
जैन नीतिशास्त्र : एक परिशीलन
जैन धर्म और दर्शन : एन परिचय
संस्कृति के अंचल में
अनुभूति के आलोक में
चिन्तन की चाँदनी (द्वि. स.)
विचार वैभव
दिचार रश्मियां
कीचड़ और कमल
धरती का देवता
शूली और सिंहासन (द्वि. स.)
पुण्य पुरुष
खिलती कलियाँ मुस्कराते फूल (द्वि. स.)
प्रतिध्वनि (द्वि. स.)

गहरे पानी पैठ
खिलते फूल
प्रेरणा प्रसून
शाश्वत स्वर
फूल और पराग
बुद्धि के चमत्कार
आस्था के आयाम
सत्य और तथ्य
जिन खोजा तिन पाइयाँ
प्रेरणा प्रदीप
अहिंसा का आलोक
स्वर्ण किरण
बोलती तस्वीरें
कुछ मोती कुछ हीरे
धरती के फूल
पंचामृत
अतीत के चलचित्र
चमकते सितारे
गागर में सागर
सीप और मोती
पावन प्रसंग
अमिट रेखाएँ
दीप जले : तिमिर टले
अमृत घट
फुलवारी
सागर की लहरें
जागे युवा शक्ति
आहार आरोग्य
मानव आचार धर्म
अनन्त शक्ति का पुञ्ज : नमोक्कार महामन्त्र
आत्मशक्ति का स्रोत : सामायिक
सर्वतोमुखी विकास का मूल : चातुर्मास
जैन तत्त्व ज्ञान की रूपरेखा
जीवन संस्कार माला पुस्तकें १२ का सैट
साहित्य और संस्कृति
कर्म विज्ञान : एक समीक्षात्मक अध्ययन
बिन्दु में सिन्धु
सोना और सुगन्ध
श्रावक व्रत आराधना
रा. के. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ
(शोध प्रधान लेख, ११०० पृष्ठों का विशाल ग्रन्थ)
साध्वी रत्न श्री पुष्पवती अभिनन्दन ग्रन्थ